प्रकाशक
 प्रकाशक
 प्री चात्मानन्द पुस्तक प्रचारक मग्डल
 ग्रीशनगुहङ्का, घ्रागरा।

# समर्पग्म्।

#### 

प्रदेश सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहङ्कारः सम्यदुःखसुखः समी ॥ सन्तुष्टः सततं योगी यतान्मा दढनिष्ट्यः । मर्व्यर्पितमनो बुद्धियों मे भक्तः स मे प्रियः ॥ यसम्ब्रोद्धिजते लोको लोकान्नोद्धिजते च यः । हर्पामर्पमयोद्धेगैर्मुको यः स च मे प्रियः ॥ प्रमपेतः शुचिद्त्व उदासीनो गतव्यथः । सवीरम्भपरित्यागी यो मङ्गकः स मे प्रियः ॥ यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचित न काङ्क्ति । शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ समः शृत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । श्रातोपणसुखदुःखेषु समः सङ्गविचितितः ॥ सुल्यनिन्दास्तुतिमीनो सन्तुष्टो येनकेनचित् । श्रानिकेतः स्थिरमतिर्मिकमान्मे प्रियो नरः ॥

(भगवदीता अ० १२ छो० १३-१९)

परसारमा के ऐसे परमप्रिय आदर्शभक्त नरपुङ्गवों को करकमलों में यह यन्य सादर सप्रेम एवं सवि-नय समर्पित है।

> <sup>विनीत</sup>— कन्नोमल ।

# ÷ विषय-सूची अः

-my trong

•	άß
संसर्पणम्	î
Foreword (I) by H. H. the Maharaja Saheb Bahadur of Kashmir.	, }i
दाङमुख (१) श्रीमान् महाराजा साहव वहादुर, काश्मीर, लिखित.	iii
Foreword (II) by H. H. the Maharaja Saheb Bahadur of Chhatarpur.	iv
वाङमुखं (२) श्रीमान् महाराजा साहव वहादृर, छत्रपुर, लिखित	r
Foreword (III) by the Hon'ble Raja Kushal- pal Singh Saheb M.A. LL. B. Ph. D. M. R. A. S. &c. &c. of Kotla.	/i—vii
वचनारस्भ -पगिडत .दीनद्यालु शम्मां, व्याख्यानवाच- स्पति, तिखित.	riii
व्रक्तव्य -परिदत महावीर शसाद हिवेदी, सम्पादक-पर-	
स्त्रती, तिखित.	₹—ч
भूमिका-	₹-¥
मासात्व गास्वीयविचार और गीता	\$
भौतिक विज्ञान ( Science )	2
श्रातक विश्वति ( Metaphysics )	ર સ્
मनोविद्यानशास्त्र ( Psychology )	१३

ग्राचारशास्त्र ( Ethics )	***	•••	१३
सामाजिक शास्त्र ( Social Po	olity)	***	१६
धर्मशास्त्र ( Theology )	•••	•••	१६
श्रीकृष्णचन्द्र जी के जीवन पर	एक दृष्टि	•••	38
श्रीकृष्ण चरित्र का गृहाशय	•••	•••	२७
भगवद्गीता कव वनी	•••	•••	धर .
भगवद्गीता के सिवा श्रौर श्रौर	२ गीताएँ	•;•	४०
श्रीकृष्णका पवित्र संदेश	•••	•••	, ક્ર.૨
श्रीकृप्ण की गीता	•••	•••	X
दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्त	•••	•••	ξĘ
वेदान्तदर्शन	•••	•••	=8
उपनिपत् …	•••	•••	१०२
सांख्यद्शेन	•••	•••	१०३
योगदर्शन	•••	***	१०८
न्यायदर्शन	***	***	११३
. वैशेषिक दर्शन	•••	***	१२०
पूर्वमीमांसा	•••	***	१२६
भागवतघर्म ग्रथवा भक्तिमार्ग	•••	. ' 100	१२७
नारदभक्तिसूत्र	***	***	१२८
ग्राचारधर्म		. •••	१३२
श्रीमद्भगवद्गीता वे	सिद्धान्तीं:	कासप्रमा	पा
शृङ्खाबद्ध वर्णनः—			१३५.
सृष्टि	•••	***	१३७
जीव (भात्मा ) '	••••	•	१४०
परमात्मा	***	•••	१४२
श्रात्मा श्रौर परमातमा का ।	संस्वन्धः 🔐 🕖		१४४

परमपद	***	***	***	१५६
परमपद प्राप्ति का	मार्ग	•••	***	१४७
कर्भ	•••		***	१४८
पाप कैसे होता है	***	•••	***	२५१
कर्मयोग	•••	•••	***	१४२
ईंश्वर पूजन के मि	न्न २ मार्ग	•••	•••	* *=
ध्यानयोग	•••	•••	•••	१६्२
झानयाग	•••	•••	•••	१६४
संन्यासयोग	•••	•••	•••	₹É.E.
भक्तियोग	•••	• •	•••	१७२
धार्चोर	•••	•••	•••	१७७
मोत्त श्रौर परमप	द किन को	प्राप्त होता है	••	१८४
विश्वस.पदर्शन	•••	•••	•••	१६०
गीतापदेश की पर	परा	•••	***	११६
इस की महिमा	•••	•••	•••	१६६
परिशिष्ट	•••	***	•••	339
ईश्चरगीता	••	***	***	२०१
गग्रिशमीता	•••	***	•••	२०५
शुकाष्ट्रक	***	•••	•••	
भगवद्गीतामूलप	गठ	***	(	(8∌∙\$
शुद्धशुद्धिपत्र	•••	***	٠	(१-५)



.

### FOREWORD (1)

BY

His Highness the Maharaja Saheb Bahadur of

#### Kashmir.

In my opinion, the book—Gita Dirshan—contains useful information culled from ancient. Sanskrit Literature and interpreted in the light of modern research and view of either European scholars or Indians trained on European lines. The labours of the author in this direction are worthy of praise. The author has explained broad principles of the six systems of Hindu Philosophy and has given a list of the main subjects discussed in Gita. His treatment of the main subjects discussed, is, to a great extent, on impartial lines. Persons who are not acquainted with the subjectmatter of Gita or the teachings of Upnishads and Puranas, will get an idea of them in their broad outlines by going through this book.

I have no hesitation in wishing the book Godspeed on its way to the world, and trust it will be welcomed and well appreciated by the public.

THE PALACE SRINAGAR H. H. MAHARAJA SAHIB BAHADUR 13th August 1918.

## यंगरेज़ी से यनुवाद--

(१)

# श्रीमान् महाराजा साहव वहादुर, काइमीर,

निखित

### वाङम्ख

मेरी संमित में, इस पुस्तक—गीतादर्शन—में प्राचीन संस्कृत साहित्य से उपयोगी विषय सिक्वित कर के रक्खे गये हैं झौर उन का विवेचन भी साम्प्रतिक गवेषणा सङ्गत तथा योरोपियन विद्वानों या योरोपियन प्रणाली पर सुशिक्तित भारतवासी विद्वानों के मत के झासार है।

इस सम्बन्ध में लेखक का परिश्रम प्रशंसनीय है। लेखक ने इःश्रों हिन्दू दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों की संत्तेपरूप से लिखा है; श्रोंर गीता में जो जो मुख्य विषय हैं उन का भी क्रमनियमानुसार वर्शन किया है। गीतान्तर्गत मुख्य विषयों का विवेचन निष्पत्तत्या किया गया है। जो मनुष्य गीता तथा उपनिपदों श्रोर पुरागों के उपदेशों से श्रनभिक्ष हैं, वे इस पुस्तक के पढ़ने से उनके सिद्धान्तों से सुपरिचित हो जायंगे।

मेरी यह शुभकामना है कि यह पुस्तक संसार में प्रवेश कर सफलता प्राप्त करें। मुफ्ते विश्वास है कि पाठकगण उसका स्वागत कर उस के गुण्याही होंगे।

राजमहत्त श्रीनगर २ ध्रगस्त १६१८ प्रतापसिंह, श्रीमान् महाराजा साहव वहादुर, कारमीर ।

#### FOREWORD (II.)

BY

His Highness the Maharaja Sahib Bahadur of Chhatarpur.

There are few books in the literature of the world which have attracted so many commentators and the translators as the 'Bhagvat Gita—the Lord's Immortal song.'

The present commentary, too, is not without justification. Its special feature is that its learned author has put together under separate heads, the gems of thought that are scattered all over the text, so that the reader may easily find all the information he wants on a particular subject. The book gives a valuable summary of the six Darshans, a thorough knowledge of which is essential for the right understanding of the text. The author has also added a short life of Lord Krishna, the Divine author of the work. He, while explaining the miracles of the Lord, holds a view, not much different from the opinion of some modern christian thinkers—that miracles are a special working of the laws of nature to suit the needs of the occasion. This is quite in keeping with the spirit of the present age.

The book will be of special benefit to those who turn away from other commentaries calling them too difficult for them, but even those who call themselves learned in the Shastras will find the book much useful, specially as a note-book for refreshing their memory.

Lala Kannoo Mal has taken a good deal of trouble to make the book really a useful one, and I hope his labours will well be rewarded by the appreciation that the book will meet from the Hindi reading public.

CHHATARPUR,

The 5th August 1918.

VISHWA NATH SINGH, HIS HIGHNESS THE MAHARAJA SAHIB BAHADUR

> OF Chhatarpur.

### अंगरेजो से अनुवाद---(२)

### श्रीमान् महाराजा साहब वहादुर, छत्रपुर, लिखित वाङमख

भूमगडल के साहित्य में बहुत कम ऐसी पुरतके हैं जिनके भाष्य और ब्रानुवाद इतने हों जितने श्री मद्भगबद्धीता के हैं।

पस्तुत टीका भी प्रावश्यकतानुसार है। इसकी यह विंगपता है कि सुपिटत लेखक ने उन सब विचार-रत्नों की जो गीतापाट में फेल हुंग हैं। पृथक र ग्रीपंकों में विभक्त कर ग्रुतलावद्ध कर दिखाया है। इस से यह सुभीता हो गया है कि पढ़ने वाले की जिस विपय का परिचय करना ही उसे वह एक स्थान में ही संग्रहित पावेगा। इन पुरतक में इंग्रों दर्गन ग्रास्त्रों का दिग्दर्गन भली भीति कराया है। गीता समभाने के लिये इन शास्त्रों का पूर्ण परिचय होना परमावश्यक है: लेखक ने गीता के बक्ता भगवान श्री कृष्ण का जीवन चरित्र भी किंतपम्प से देदिया है। भगवान श्रीकृष्ण के श्राद्धत और चमन्कारी कार्यों के विवेचन में लेखक का नहीं मत मालूम होता है जो कुछ श्राधुनिक किश्यम विचारकत्तां की का है-श्रयांत् यह कि श्रवसर की श्रावश्यकताओं के श्रनुसार प्राकृतिक नियमों का विगय रीति से उपयोग करना ही श्रद्धत कार्यों का रहस्य है। यह वात वर्त्तमान गुग के भावों के श्रनुसार है।

यह पुस्तक विशेष कर उन के लाभ की खिथक है जो गीता के भाष्यों को कठिन समक्त कर उन्हें होंड़ देते हैं: परन्तु जो खपने लिये शास्त्रों के खच्छे विद्वान समक्ति हैं उन की स्पृति जागृत करने के लिये भी यह पुस्तक नाट बुक के रूप में परमोपयोगी है।

लाला कन्नोमल ने इस पुस्तक को वास्तव में परमोपयोगी वनाने में कोई परिश्रम उठा नहीं रक्खा है। में आशा करता है कि हिन्दी संसार में इस पुस्तक का जो आदर होगा वही लेखक के परिश्रमों के लिये एक अच्छा पारितोपिक होगा।

विश्वनाध सिंह

ञ्जपुर ४! श्रगस्त १६१= श्रीमान् महाराजा साहव वहादुर छत्रपुर ।

#### FOREWORD (III).

BY

The Hon'ble Raja Kushalpal Singh Saheb M. A. L.L.B. Ph. D. M.R.A.S. etc etc of Kotla.

The Bhagvad Gita—Lord Krishna's Divine Song is one of those wonderful, priceless and immortal books, which millions of human souls have from time immemorial been regarding as the most sacred of sacred books to be daily read, recited, marked, studied and inwardly digested with the deepest feelings of faith and reverence. It is an exquisite casket of the most scintillating gems of the sublime and lofty teachings of Hinduism—a Kaleidoscopic view of its leading philosophical ideas, scientific theories, religious doctrines, ethical tenets and devotional practices leading to the ultimate goal of emancipation.

Its divine teaching has verily contributed to the spiritual and moral uplifument of humanity. It has consoled many a wounded heart—it has rekindled hope and joy where gloom of despair prevailed—it has solved many a metaphysical, ethical, socialogical and economic problem that distracted the human mind—it has in brief opened the portals of undying bliss, immortal felicity and eternal peace to many a soul ruthlessy crushed down under the ever-revolving wheel of Karma.

Occidental sages and savants have lavished an abundance of their rapturous praise on the lofty teaching of this great book. It is a book which may well claim to have been translated in almost all the languages of the civilized world.

Multitudes of learned commentaries and ingenious glosses have been written on it; yet there is room for more works such as aim at explaining, elucidating and illuminating its teachings for the general public.

Lala Kannoo'Mal, M. A. has struck out a new pathan untrodden ground-in writing his work on the subject. The contents of the book will show what a vast and varied field of matter has been traversed in order to make the book as full and complete as it could be. The portions pertaining to a comprehensive survey of the main conclusions of Western science and philosophy in the light of the teaching of the Bhagvad Gita—an account of the life and deeds of Lord Krishna-the Divine Author of the Gita-a review of the principal conclusions of the six systems of Indian philosophy followed by six separate articles on these systems as well as on the doctrine of Bhakti (devotion), constitute not only an interesting mid instructive reading in itself but go a long way in explaining, illuminating and expounding the teaching of the Gita and bringing it within the reach of ordinary intelligence and understanding.

The outstanding and novel feature of the book is that the contents of the teachings of the Bhagvad Gita have been classified and arranged under distinct heads, and that each classified subject has been presented in the form of a comprehensive, well-connected and self-contained article with textual references in the margin, so that the reader may know at once all what the Gita teaches on the subject.

The new method of explaining the Gita is indeed commendable. The author seems to have spared no pains in making his book as interesting and instructive as he could. It bespeaks his intimate knowledge of Eastern and Western philosophy-his deep study of Hindu religiou—his remarkable ability in explaining things his facility in expressing abstruse ideas in easy and intelligible language-his marked skill in shifting, arranging and marshalling material. In brief, the book is an ample testimony to his scholarship and spirit of research, and is a credit to him.

I have no hesitation in wishing the book every success in the world, and trust it will be well appreciated by the public.

Koth Fort
Dist Agra U. P.

The Honble Raja KUSHAL
PAL SINGH M.A.L.B. PH.D.M.R.
The 12th Sept. 4918.

A.s. etc etc of Korla.

### वचनारम्भ।



्र पेरे मित्र लाला कन्नोमल जी एम. ए. ने "गीता दर्शन" नामक पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य में एक उपयोगी श्रन्थ की वृद्धि की है।

भारतवर्ष में, उपनिपदों के सार श्रीमद्भगवद्गीता का पठन पाठन चिरकाल से चला झाता है। गीता सदश विश्वमान्य भगवत् सन्देश की झनेक सुपाठ्य व्याख्यांप देव वाणी संस्कृत और राष्ट्रभापा हिन्दी में पहले से ही वर्समान हैं। तथापि पाश्चात्य सभ्यता और शिक्ता दीक्ता से झिमझ होकर प्राचीन वैदिक्षधर्म में निर्श्नम झास्था रखनेवाले एक सुयोग्य विद्वान् का आर्थ दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रतिभागाली विवे-चन देखकर चित्त परम सुखी हुंग्या।

स्कूल कालेजों के विद्यार्थियों में हिन्दूदर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के आभिकान झौर उनके प्रति श्रद्धा भक्ति के भाव जागृत करने के पवित्र उदेश्य से इस पुस्तक की रचना की गई है।

में इस पुस्तक की सफलता का अभिलापी हूं।

द्दीनद्यालु शम्मी, परिडतः व्याख्यान वाचरपति ।

### वक्तव्य ।



सृष्टि छोर लय, आत्मा छोर परमान्या से लय्बन्ध रखने वाला समत्र ज्ञान प्राप्त कर लेना ज्ञानार्जन की पराकाष्टा है। श्रक्षेत्रा सृष्टि गृथ्द इतना व्यापक है कि जड़-चेतन, जो कुछ हमारी ज्ञानेन्द्रियों का विषय है, सभी का समावेश उस में हो जाता है। तिनके से लेकर पर्व्यत तक, पिपीलका से लेकर विशालकाय हाथी तक, तारका से लेकर स्थ्यमगुडल तक-सभी सृष्टि के अन्तर्गत है। जुड़ से जुड़ वस्तु का भी सर्वाङ्गी ज्ञान प्राप्त करना जब मनुष्य के लिये असम्भव सा है तब इस सारे विश्व का यथार्थ ज्ञान काई के जे प्रान्त कर सकता है। पर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना ही मनुष्य-जन्म की सार्थकता है। स्योंकि ईश्वर ज्ञानमय है छोर मनुष्य ईश्वरही का छंश है। मनुष्य ही क्यों, जहां जहां ज्ञान का छंश—चाहे कितना ही अल्प क्यों न हो—पाया जाता है वहां वहां सर्वक्त, ईश्वरंश कः अस्त्रित्व समस्तना चाहिए। अतंपव अपने ज्ञानोद्धव के कारण अथवा ध्याकर, ज्ञानकपी जगदीश्वर की पहचान के लिए—उस में अपनी ध्यान्या के लय के लिए—चिएा करना मनुष्य का सब से बड़ा कर्तव्य है।

सुष्टि-स्थिति आदि के नियम समस्तने और उन के द्वारा क्रप्टा के आस्तत्व की भावना हत्पटल पर खड्कित करने के लिए ज्ञान-प्राप्ति के सिवा और कोई साधन नहीं। प्रकृति के नियमों में ज्ञानवानों को सदा एकसी सत्यता का अनुभव होता है। ज्ञान और सत्य प्रायः पर्थाय-वाची शब्द हैं। क्योंकि प्राकृतिक नियमों में सत्य का अनुभव होना ही ज्ञान का अनुभव कहाजाता है। वात यह है कि सत्य की उपलिध ही ज्ञान की प्राप्ति है। किसी भी नियम से सम्बन्ध रखने वाले सत्य का ध्रमुभव हो जाना हो ,उसं उतने ज्ञान का ध्रमुभव करना है। यदि किसी को समस्त प्राकृतिक नियमों की सत्यता का ज्ञान हो जाय तो समस्ता चाहिए कि उसके लिए कुछ भी जानना वाकी नहीं रहा। ध्रतएव ध्रसत्य के ध्रावरण को हटाकर—माया केवन्धन को तोड़ कर-वह मुक्त हो गया, वह ज्ञानमय ईश्वर की सदृशता को पहुंच नया; वह स्वयं ही ईश्वर हो गया।

भारतवर्ष के ज्ञानी ऋषि-मुनि ऐसे ही सत्य की खोज में सदा निरत रहते थे। उन्हों ने ज्ञान का बहुत कुछ श्रंश स्वायत्त कर लिया था। जिस के हृद्य में सत्य ज्ञान के श्रंश का जितना ही श्राधिक उद्भव हुआ था वह उतना ही श्राधिक ईश्वर के पास पहुंचसा गया था। उन ज्ञानियों के प्रन्थों से उन के ज्ञानांश के श्रानुरूप ही सत्य की उपलिध होती है।

इन सव क्षानान्वेषियों की क्षान-प्राप्ति के मार्ग वहुत कर के जुदा जुदा थे। इस का कारण रुचि, स्वभाव और संस्कार की विचित्रता के सिवा और कुछ नहीं। जिसे जो मार्ग अच्छा जगा उसने उसी मार्ग से अपनी अमीए-सिद्धि के लिये उद्योग किया। एक से अधिक शास्त्रोंके निर्माण का यही कारण है। पर शास्त्र चाहे जितने हों, उद्देश सवका एकहीथा। वह था, सत्य की उपलिध-सच्चे क्षान की प्राप्ति। क्यों कि जन्म की सार्थकता और परम पुरुषार्थ की सिद्धि इसी पर अवक्रमिवत समसी जाती थी श्रीर श्रव भी समसी जानी चाहिए।

हमारे षड्दर्शनों और उपनिषदों का साध्य यही था। उन सभी में सत्य की खोज, सत्य की पहचान और सत्य की प्राप्ति के साधनों का, भिन्न भिन्न प्रणालियों से, वर्णन है। प्रास्ति-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, मानस-शास्त्र आदि जितने आधुनिक शास्त्र हैं उन सवका प्रधान साध्य यद्यपि यह नहीं पर वे भी सत्य की खोज और उपलब्धि के साधन आदि का ही वर्णन करते हैं। और सत्य सदा अव्यक्षित्रारी है। देश, काल और पात्र-भेद के कारण उस में भेद नहीं हो सकता। यही कारण है जो थेरप और अमेरिका, जीन और जपान के जिन्ता-शील विद्वान भी सत्य की खोज करते करते उन्हीं सिद्धान्तों पर पहुंचे हैं जिन पर भारत के दार्शनिक विद्वान और अन्य विपयों के पहुंचे हुए पिड़त पहुंचे थे। सत्य यदि अव्यक्षित्रारी न होता—क्षान का यदि एकं ही रूप न होता—तो यह वात कदापि न होती। भारतीय विद्वानों का सिद्धान्त है कि आकाश अनन्त है। यह निर्वाध सत्य है। इसी से भिन्न भिन्न देशों के सत्यशोधक विद्वान भी इसी परिणाम पर पहुंचे हैं।

पदार्थों के हरय झाकर भिन्न २ होने पर भी उनकी उत्पत्ति, स्थिति झाँर संहति के नियम एकही प्रकार के सत्य-सूत्र से झनुस्पूत हैं। इसी से विज्ञानाचार्य्य सर जगदीशचन्द्र वसु जो बनस्पति शास्त्र-सम्बन्धिनी खोज करने जगे तो कभी प्राणिशास्त्र की सीमा के भीतर पहुंच गये, कभी शरीर शास्त्र की सीमा के भीतर और कभी मानस शास्त्र की सीमा के भीतर। तभी उन्हों ने जाना और परीक्ता द्वारा संसार को बता दिया कि सब की जड़ में एकही सत्य विद्यमान है; सब का निय-मन धौर संहरण एकही प्रकार के नियमों से होता है; चाहे जहां छाप खोज कीर्जिए, सत्य ज्ञान सब कहीं एक ही सा पाया जायगा।

श्रीमद्भगवद्गीता में जिस ज्ञान का निरूपण है वह चाहे श्रीकृपण का किया हुआ हो, चाहे व्यास का, चाहे और किसी का, उसका निरूपण कर्ता यदि पूर्ण ज्ञानी नहीं, तो बहुत वड़ा ज्ञानी अवश्य था। सत्य ज्ञान आलोक से उस का हत्सरोज अच्छी तरह विकसित हो गया था। ज्ञान प्राप्ति के मिन्न मिन्न मार्ग उसे अच्छी तरह अवगत थे। क्योंकि उसने गीता में अपने समय में ज्ञात, उन सभी मार्गों का निर्देश किया है और वताया है कि मार्ग मिन्न होने पर भी साध्य सवका एक है। मार्ग-भेद

केवल अधिकारि-भेद का स्वक है। अर्जुन को गीताकार ने निष्काम-कम्मं का अधिकारी समक्ता। इसी लिए उसने अर्जुन को उसी मार्ग से अपनी इष्ट-सिद्धिकरने पर ज़ोर दिया। पर साथ ही उसने अन्य मार्गों का भी निरूप्णकर दिया। यह इस लिए कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति-जिसे दूसंग्र शब्दों में मुक्ति या मोज्ञ भी कह सकते हैं—और मार्गों से भी हो सकती है। पर उपस्थित अवसर और पात्र-विशेषत्व के विचार से अर्जुन के लियें उसने अन्य मार्गों के अवलम्बन की जरूरत नहीं समक्ती। उसके लिय कम्मे योग नामक मार्ग से ही अपना साध्य सिद्ध करना उसने प्रशस्त समक्ता।

येही वातं जाला कन्नोमल ने, प्रकारागार से, इस पुस्तक में वर्ताई हैं। उपनिपद्, न्याय, मीमांसा, वेदान्त और योग-शास्त्रों की झालोचना और गीता-निकिपत सिद्धान्तों से उन शास्त्रों के सिद्धान्तों की जुलना करके उन्होंने यह दिखला दिया है कि साध्य सब का एक ही है; न्यूना-धिक मात्रा में सत्यन्नान की उपलिध सब से एकसीकी होती है। यदि ऐसा न होता तो उन उन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्त गीता के सिद्धान्तों से इतना न मिलते। उन्हों ने तो पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा निर्मित शास्त्रों के सिद्धान्तों से भी यह बात, बहुत दूरतक, सिद्ध कर दी है। भिन्न देशों में, मिन्न समयों में, मिन्न हिप्यों से भी ये शास्त्रकार धनेकांश में उन्हीं परिणामों पर पहुंचे हैं जो परिणाम गीता तथा धन्य भारतीय शास्त्रों की सम्पदा हैं। यदि सत्य सब कहीं धौर सदा ध्वाध न होता तो यह बात कदापि सम्भव न थी।

पड्दर्शनों, उपनिषदों और पाश्चात्य शाखों के सिद्धान्तों में गीता के सिद्धान्तों से जो कहीं कहीं मेद पाया जाता है उसका कार्ण है। ज्ञान की मात्रा सब में एकसी नहीं होती। ज्ञानांश की इयन्ता के श्रमुसार ही सत्य की खोज में मनुष्य कृतकार्य हो सकता है। इस दशा में यत्र तत्र मेद-भाव हो जाना बहुत ही सम्भव है। किस के सिद्धान्तों में कितनें श्रोर कहां कहां भ्रम या प्रमाद है, यह वताना विकानाचाय्यों का ही काम है। वहुत सम्भव है कि वे शास्त्र मजुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि, श्रवस्था, शिक्ता श्रोर संस्कार के विचार से रचे गये हों। श्रत्यव जो भेद श्रोर विरोधाभास हमें देख पड़ते हैं वे वास्तव में श्रिकारि-भेद के सुचक हों।

लाला कन्नोमल ने श्रीकृष्ण और गीता के सम्बन्ध में जो श्रन्य बातें लिखी हैं वे यद्यपि गीया हैं, तथापि उनसे गीता का तात्पर्य्य समक्तने में बहुत सहायता मिलती है। उनसे गीता का महत्त्व भी बढ़ गया है। भिन्न भिन्नशास्त्रों के ज्ञान का बहुत कुन्न समन्वय जो उन्होंने गीता में दिखाया है, वही इस पुस्तक की विशेषता है—बही इसका प्रधान गुण है। श्राशा है, इस गुण-क्षान से गीता की महत्ता का श्रीर भी श्राधिक श्रामुभव पाठकों को हो जायगा।

श्रीकृष्ण का कथन है-

सर्वधर्मान् परित्यस्य मामेकं शरणंत्रजः । जन समुदाय से इमारी प्रार्थना है— ध्रान्यक्षानं परित्यज्य गीताक्षानं स्वमाप्त्रहि ॥ महावीरप्रसाद दिवेदी सम्पादक—सरस्वती ।

# भूमिका

#### **─∾≈**≥﴿﴾≒≼∳ç≍↔ ─

संस्कृत साहित्य में भगवद्गीता एक अत्यन्त उज्ज्वल और अमृत्य रत्त है। यह इतनी सुप्रसिद्ध और माननीय पुस्तक है कि सभी हिन्दू इसका आदर करते हैं। लाखों हिन्दू इस का प्रतिदिन पाठ करते हैं। सहसों को यह कण्डाप्र है। ग्रोनक पुरुष्टर विद्यान और तत्वयत्ता महान्माओं ने इस पर टीकाएं लिखी हैं। इस के श्रमुवाद अनेक भाषाओं में मिलते हैं। इस के सम्बन्ध में अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ रचे गये हैं। बड़े २ पाश्चात्य विद्वानों ने कण्डरच से इसकी प्रशंसा की है, और इस के गौरवशाली सिद्धानों पर गम्भीर विचार किये हैं। हाल में मान्यवर बातगंगाधर तिलंक ने इस पर एक अपूर्व ग्रन्थ तिलंक हैं। यह ग्रन्थ विचार प्रश्नुरता और गंभीर गवपणा से भरा हुआ है। अगबद्रीता का भारतवर्ष में इतना प्रचार है कि यद्यपि गीताएं अनेक हैं:—जैसे शिवगीता, गोणश्चिता ही समक्षते हैं। इस गीता की प्रसिद्धि श्रीर महिमा के ये कारण मालूम होते हैं:—

्र-सगवद्गीता सब गीतात्रों से प्राचीन है। अवस्था के 🔅

२ - दूसरी गीताएँ कुछ न कुछ इसी के आधार पर लिखी गई हैं। बहुतों में तो इस के अनेक स्लोक सन्तरका रख दिये गये हैं।

३—प्राचीन ग्राध्यातिमक ग्रन्थों में जितने महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, वे प्रायः सभी इस में कहीं न कहीं मिलते हैं।

४—वेदों की उपासना, ब्राह्मणों का यश्चयागादिकमकाण्ड, उप-निपदों का अञ्चतप्रदृश्चनप्रार्थ, दर्शनकास्त्रों के वैद्यानिक सिद्धान्त, पुरागों की सगुग उपासना धौर भिक्तमार्ग, स्मृतियों के मृताधारतत्व, वर्णाश्रमधर्म, और नैतिक विचार-ये सभी भगवद्गीता में पाए जाते हैं।

५—गीता के सिद्धान्त कितने ही पाश्चात्यशास्त्रीय विचारां से भी अधिक गौरष रखते हैं।

६—इतिमार्ग, ध्यानमार्ग, सन्यासमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग-गीतार्मे सभी मार्गो का विवेचन है।

७—इस गीता में किसी मतमतान्तर का कागड़ा नहीं। सभी मार्गों को मुमुजु की योग्यता के अनुसार भगवान् कृष्णचन्द्रजीने मुक्ति का साधन माना है।

५—साहित्यदृष्टि से इस की संस्कृत सरस और सरल है, चौर इसमें गम्मीरिवचार बड़ी स्पष्टता से लिखे गये हैं। इस अङ्गुत और अद्वितीय पुस्तक का पूर्वांगर सम्बन्ध, महत्व पर्व इस के सिद्धान्त सम्यक् प्रकार समक्तने के लिए, इन इन बातों के जानने की आवश्यकता है:—

१—भगवद्गीता के वक्ता श्रीकृष्णचन्द्र जी का पवित्र जीवन चरित्र।

२—भगवद्गीता के धनने का समय और अन्य गीताओं का कुछ हाजा।

२— दर्शनशास्त्रों के भोटे भोटे सिद्धान्तों का दिग्दर्शन प्रयात् वेदान्त, सांस्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वभीमांसादि शास्त्रों के सिद्धान्तों का संज्ञित वर्णन, और कुछ उपनिषदों का भी हाल ।

४—गीता के सिद्धान्तों से पाश्चात्यशास्त्रों के विचारों की तुलना।

६—मागवतधर्म प्राचवा भक्तिमार्ग के मोटे मोटे सिखान्तों का निरूपण सर्धात् नारदमक्ति सूत्रों का सारांग्रा अ—गीता के १८ भ्राध्यायों में जिन जिन विषयों का प्रतिपादन है, हन को पृथक् पृथक् ग्रुंबलावद उल्लेख-फिर उन से गीता के सिद्धानतें का मिलान, जिस से सब भ्राध्यायों के पढ़े बिना एक ही स्थान में किसी विषय का पूरा पूरा द्वाल माल्म हो जाय। उदाहरणतः आत्मा भीर परमात्मा का सम्बन्ध, भीर संसारोत्पत्तिआदि विषयों पर गीता के विचार।

इन सब बातों को छत्त्य कर यह पुस्तक लिखी गई है, और यही इस के छिखने की आवश्यकता है; क्योंकि भगवद्गीता सम्बन्धी कोई पेसी पुस्तक मेरे देखने में नहीं आई जिस में इन सब बातों का उहाँच हो।

गीतापर अनेक टीकाएं और भाष्य हैं। उन से गीता के कठिन और गृह क्ष्रोकों का अर्थ अब्द्धी तरह बात होसकता है अथवा उस के गम्मीर विचार स्पष्ट होसकते हैं; परन्तु किसी एक विषय का परिचय जिस का वर्षन गीता के अटारहीं आध्यायों में हो, श्रेक्षलाबद्ध निबन्ध कप में नहीं होसकता है।

इस पुस्तक की सूची देखने से झात होगा कि भगवहीता से पूर्ण परिचय प्राप्त करने के जिए जिन जिन बातों के जानने की सावश्यकता है, वे सभी इस पुस्तक में आगई हैं।

शीर्षक नम्बर १८ में गीताप्रतिपादित जितने विषयहैं, उन्हे १८ प्राध्यायों में से संग्रह करके, उन पर गीता के रहोकों के आधार पर एक एक निवन्ध लिखा गया हैं। भीर साथ ही हाशिये पर गीता के प्रध्याय भीर रहोकों का हवाला भी देदिया है जिससे निवन्धका मिलान रहोकों से जल्दी होसके, और कोई यह भी न समसे कि यह निवन्ध लिखक ने भ्रापने मन से ही लिख दिया है। प्रत्येक निवन्ध के अन्त में लेखक की तरफ से टिप्पणी है। उसी में उसने भ्रापनी सम्मित प्रकट की है।

श्राशा है कि जिल श्रामिश्राय से यह पुस्तक क्षिश्री गई है, उसे परमातमा पूर्ण करेगा। गीता के पाठकों से स्विनय प्रार्थना है कि इस् पुस्तक में जो जो श्रिट्यां रह गई हो उन्हें साम्य दृष्टि से देखें, श्रीर, यदि होसके तो मुक्ते भी स्वित करदें, जिस से यदि इस का दूसरा संस्करण निकजा तो उस में वे दूर करदी जांय।

## कन्नोमल ।



# ्र गीतादशन

# - 🕍 पाइचात्य शास्त्रीयविचार ऋोर गीता

# भौतिकविज्ञान

( SCIENCE. )

**--->**>﴾₩♦٤≈---

इस शास्त्र में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी उन्नति की है। जहां तक इस शास्त्र का सम्बन्ध संसारीत्पत्ति विषय से है, इन्हों ने अनेक अम्रान्त प्रमाणों से सिद्ध किया है कि संसारोत्पत्ति में परिणामवाद ही मुख्य है। पहले, यह माना जाता था कि संसार परमागुर्थों से बना है; परन्तु, डार्चन-पृत्रसक्ते स्पेन्सरादि विद्वानी ने अच्छी तरह सावित कर दिखाया कि परमाणुवाद मानने में बड़े बड़े दोप झाते हैं। गुणविकास वाद ही वैज्ञानिकशास्त्र की चरमसीमा है। यह इमारे ही सांख्य दर्शन का मत है जिसे वेदान्त ने भी माना है, और इसी मत के अनु-सार गीता में भी संसारीत्पत्ति कही गई है। क्याद का परमागुवाद नहीं माना है। इस मत से यह तो सिख् हो जाता है कि सब सृष्टि ध्रव्यक्त प्रकृति अथवा माया से उत्पन्न हुई है, लोकिन यह समभ में नहीं आता कि जड़ प्रकृति स्वयंकर्ती और स्वयंभुवी कैसे है। इस का समा-थान सांख्य और ऋाधुनिक भौतिक शास्त्र में नहीं है, बल्कि गीता में है, जो कहती है कि प्रकृति स्वयंकर्ती नहीं है, बहिक वह अखंड ब्रह्म के एक अंश के मेल से अपनी रचना करती है। इसिखये गीता में कहा है कि संसारोत्पत्ति ब्रह्म की योगमाया से होती है जिसे ब्रह्मति कहते हैं, और इस के दो रूप-परा और अपरा हैं। परा, सब भूतों की योनि है ज़िस में वैतन्यब्रहा का अंश जीव के रूप में आता है, भीर भपरा, संसार के सब पदार्थों को बुद्धि से लगा पंच भूतों तक को पनाती हैं। जिस तरह पाळात्य विकासवादी प्रकृति को अन्त में दाकि दी मानंत हैं, परमाणुमों का पुज नहीं इसी तरह गीता भी इस प्रकृति को शिक का ही रूप मानती हैं, परन्तु इतना विशेष कहती है कि यह दाकि तीन का ही रूप मानती हैं, परन्तु इतना विशेष कहती है कि यह दाकि तीन का ची का मानती हैं । सत्वगुण, दाकि, निवृति और शान्ति का चीतक है। रजोगुण, प्रवृति और काम उत्पादक हैं, भीर तमोगुण, मोह और चान्यकार बद्दाने वाला है। इसी तीन दाकि गुणों के मेज से संसार के सब पदार्थ बने हैं। जिस में सत्वगुण विदेश हैं और रज्ञः और तमः काम बह श्रेष्ट है। जिस में सत्वगुण विदेश हैं और उज्ञः और तमः काम बह श्रेष्ट हैं। जिस में सत्वगुण विदेश हैं और उज्ञः और तमः काम बह श्रेष्ट हैं। जिस में रजोगुण प्रधान हैं, वह मिलन भीर निकृष्ट हैं। गीता में पाश्चात्यभीतिकशास्त्रीयविकासवाद ही नहीं हैं, बहिक की बुद्धियां इस मत में रह गई हैं उनका समाधान भी है। अर्थात् गीता, जड़ दाकि को स्वयं स्थि कश्ची नहीं मानती हुई, उस का प्रादि कारण प्रकृतवाती है भीर शक्ति को सन्व रज्ञः तमः तीन गुणकपवाळी बताती है।

### अध्यात्मशास्त्र ।

(METAPHYSICS:)

्रें इस विषय में जो पाञ्चात्यपंडितों ने सिद्ध किया है, वह गीता के सिद्धान्तों से कहीं पीठें हैं।

पहली बात यह है कि हम जितनी वस्तुएं संसार में देखते हैं, वे सब परिवर्तनद्यील हैं। नित्य और निरन्तरस्थायी कोई नहीं हैं।

क्या कोई पेसी वस्तु भी है जो नित्य अन्यय और निरन्तरस्थाकी हो है पाछात्य पंडित कद्वते हैं कि मत्येक वस्तुका रूपान्तर होता रहता है, और सब परिवर्तनों का मुखाधार प्राकृतिक शक्ति ही है। यदि कोई नित्य वस्तु है, तो बही शक्ति है। जिनका मत यह है कि प्रकृति के परे

ईश्वर है जो इस संसार को रचता और चलाता है, तो उसका संहन वैज्ञानिक पंडित यह कहकर करते हैं कि इस युक्ति से ईश्वरभी परिव-र्तनशील. सिक् होता है। वह नित्य सत्य नहीं हो सकता है। पाश्चात्य देशों में बहुधा सगुगईश्वर ही माना जाता है। सगुग ईश्वर का संडन इस तर्क से द्वो जाता है। इसी कारण सांख्य दर्शन ने सगुग ईश्वर की ऋसिद्धि मानी है। वेदान्त शास्त्र का मत है कि वह निरन्तर सत्य मूलतत्व सगुण ईश्वर नहीं, बिटक निर्शेण प्रान्यक ब्रह्म है। बह विकाररहित है, परन्तु प्रकृति में जितने परिवर्तन होते हैं उसी के आधार पर होते हैं । यदि जल आधार नहीं हो, तो नौका नहीं चल सकती है। खुंदी आधार नहीं हो, तो कुम्भकार का चक्र नहीं चल सकता है। कपड़ा अथवा दीवार आधार नहीं ही, तो मेजिक जेनटर्न के चित्र घूमते हुए नहीं दिखाई दे सकते हैं। ऐसेही यदि सत्य नित्य असंख अव्यय अस आधार नहीं हो, तो भावा द्ययवा प्रकृति का चक्र भी नहीं घूम सकता है। एक मनुष्य का कभी नट बन जाना-कभी राजा बन जाना-कभी स्त्री का बेप धारण कर छेना, नामक्रपभेद कारण से ही होता है, न कि उस मनुष्य के स्त्रयं परिवर्तन से। वह तो जैसा का तैसा ही रहता है। केवल नामकप परिवर्तन सेही बंह तरह २ का विकाई देने लगता है। इसी तरह. माया का कपजाल नितंय झन्वक ब्रह्म पर पड़ा है जिस से भिन्नता दिसाई देती है, वास्तव में पकता ही है। पूर्वोक्त उदाहरण में यदि मनुष्य आधार नहीं हो, तो न तरह २ के रूप ही दिखाई दें, भीर त उन रूपों का परिवर्तन ही हो; क्योंकि इन परिवर्तनों का कोई स्थायी केन्द्र नहीं है। इसी तरह संसार के सब परिवर्तनों का स्थायी और अञ्चलकेन्द्र ब्रह्मही है। प्रकृति अथवा शक्ति नहीं है; क्योंकि वह स्वयं परिवर्तनशील है। परिवर्तन दो प्रकार के हैं-पक बाह्य और दूसरे आन्तरिक। ऊपर के उदा हरण में मनुष्य का तरहर के रूप बार २ पलटना, बाह्य परिवर्तन है, और उसी उदाहरण में मनुष्य

का स्वयं वाल, युवा, वृद्ध होना, धान्तरिक परिवर्तन है। जैसे वाह्य परिवर्तन का आधार भनुष्य है वैसेधी मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तनी का आधार उसकी आतमा है, जो श्रचल स्थिर श्रीर ग्राटल है। इसी तरह संसार में बाह्य परिवर्तनों का आधार प्रकृति, माया अथवा ग्रांकि है, परन्त इस आन्तरिक परिवर्तनशील वस्तु का आधार नित्य अन्यक्त भ्रव्यय अर्बंड भ्रचल अटल ब्रह्मही है: क्योंकि जब तक इस परिवर्तत-शील और चर संसार का परिवर्तनरहित ब्राह्मर तत्व नहीं होगां, तव तक इस शास्त्र का सिद्धान्तं पूरा नहीं होगा, श्रीरं न श्रध्यात्म गवेपणा हीं अन्तिम कही जायगी। बहुत से पांख्यात्य तत्ववेत्ता प्राकृतिक शक्ति परही डहर गये हैं और उसी को अन्तिम आधार मान लिया है, परन्तु इनमें से कुछ ने आगे भी क्रदम बढ़ाया है और प्रकृति के पर भी कुछ आधार बताया है; जैसे इस्पिनोज़ा (Spinoza), केन्ट (Kant), फिकटे (Fichte), द्वागिल (Hegel), हेरेंकटिकीज़ (Hernetiles)आदिने बताया है। परन्तु इन्होंने जो अन्तिम आधार वताया है वह न तो ऐसा अवल घाटल अबंख नित्य सत्यही है जैसा गीता का प्राव्यक्त निर्शुण ब्रह्म है, घ्रौर न वह ऐसी स्पष्टता से ही बताया गया है जैसा कि गीता में।

पाश्चात्य अध्यातमशास्त्र में आतमा का निरूपण ऐसी गवेषणा से नहीं किया है जैसा कि मारतीय ग्रास्त्रों में। इस विषय को ग्राधिकतर मनो विक्षान शास्त्र पर ही छोड़ दिया है। यह आत्मानिरूपण न्यायवैशोषिक शास्त्रों के जीव तक अधवा सांख्य वेदान्त के सूक्ष्म शरीर तक ही पहुँचा है, ज्याने नहीं। ऐसे जीव को तो-सांख्य, नेदान्त और गीता प्राश्चितक ही बताते हैं। जिसे आत्मा बताया है वह इस से परे है, और इसी कारण प्राश्चितकलक्तणों से रहित है अर्थात् उस में कोई परिवर्तन नहीं होता है। जैसे सब संसार का अक्षर अविनाशी परिवर्तन रहीं होता है। जैसे सब संसार का अक्षर अविनाशी परिवर्तन रहीं सुसत्वत बहा है वैसे ही ज्यक्ति के श्रीर और उस की इन्द्रियों का अचल अटल सुसत्वत आत्मा है।

पाश्चात्य पंडितों ने ईश्वरऔर जीव ग्रथमा ब्रह्म और आत्मा का सम्बन्ध बताने में भी कुछ बहुत प्रयत्न नहीं किया है, और न वे ब्रेत बहुत विशिष्टा-ब्रैतादि के भगड़े में भी पड़े हैं। उन्होंने मनोविज्ञानशास्त्र के श्रवसार, इच्छा सुखंदु:खादिविशिष्ट जीव को मान कर द्वैतवाद से भी सन्तोष कर स्थिया है। किसी २ ने श्रागे भी क्रदम बढ़ाया है; परन्तु जैसी इस विषय की भारतीय तत्वेवताशों ने गवेषणा की है वैसी उन्होंने नहीं की है।

मात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में गीता का वही मत है जो उप-निपदों का है मर्थात्दोंनों की ऐक्यता; क्योंकि गीता स्पष्ट कहती है कि समस्त संसार के जीव, ब्रह्म के भूँश हैं; और जब ब्रह्म अखँड और विकार रहित है तो यह भूँश उस से भ्रत्मा नहीं हुआ-केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही पृथक् कहना पड़ता है; जैसे महदाकाश और घटाकाश पृथक् र नहीं, केवल व्यावहारिक दृष्टि से पृथक् र दिखाई देते हैं। यह पृथक्ता उपाधियों के कारण है, न कि वह वास्तविक तत्व में है। गीता स्पष्ट कहती है कि जो मनुष्य भिन्नपदार्थों में अभिन्नताप्रधान तत्व देखता है वही झानी भीर पंडित है। यह गीता का वड़ा गौरवशाली सिद्धानत है।

इसी शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रश्न भी है कि संसार सत्य है या ग्रसत्य। दूसरे शब्दों में यह प्रश्न है कि हम संसार को जैसा देखते हैं, वैसाही है या वास्तव में कुछ ग्रोर है।

इस विषय में पाश्चात्य पंडितों ने बड़ी गवेषणा की है, और उनके विचार बड़े सारगविंत हैं; परन्तु इस विषय का निक्षण हमारे शास्त्र-कारों नेभी कुछ कम नहीं किया है, बर्टिक इस विषय में भी गीता का मत उनके विचारों से बढ़ाँ हुंगा है।

विज्ञानवाद-मायावाद-परिणामवाद-विवर्तवाद-सत्यसंसारवाद-क्षिक्वाद-संसारप्रवाहवाद-स्वप्नवाद-मिष्यावाद आदि अनेक मत हैं। इन सब मतों को मिलाके प्रधान दो मत होते हैं-चिन्नानवाद आधवा आधिवेन्नानिकवाद और आधिमौतिकवाद।

, आधिमोतिकवादियों का कहना है कि संसार जैसा दिखाई देता है वैसाही है अर्थात् वास्तव में सत्य है और अपनी पृथक् रिपति रखता है। उसका होना न होना मन कल्पनाओं पर निर्भर नहीं है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों का भी पेसाही मत है। ये, द्रव्य और गुणों में समवायसम्बन्ध मानते हैं अर्थात् वस्तु में द्रव्य और गुणों को सगठित मानते हैं, भिन्न २ नहीं। आधिवैक्शानिकवादियों का कहना है कि जो कुछ हम देखते हैं वे सग हमारे मनोरंखित दृश्य हैं।

उदाहरण - हमारे सामने एक वृत्त है। उसके क्रोनेन्द्रियों का सम्पर्क हुआ । ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव भनतक पहुंचा। मन ने बुद्धि के मेल से इन्द्रियों के अनुभव के आधार पर वृत्त का रूप किएत कर जिया। इसिलिये जो वृक्ष हमें दिखाई देता है वह हमारा मनकल्पित है, न कि वैसे रूप की वाद्य संसार में कोई स्वतंत्र वस्तु है। जो बाह्य संसार में पदार्थों को स्वतंत्र सत्तावाले बताते हैं उनसे विकान वादियों का प्रश्न है कि उन्हें यह ज्ञान कैसे हुआ। मन और बुद्धि तो क्रानेन्द्रियों के द्वारा लाई हुई सामग्री पर ही कल्पना कर सकती हैं, ं और यह सामग्री केवल इन्द्रियसम्बन्धी अनुमव ही है, श्रीर कुछ नहीं । यदि मन के सिवा प्रकृति की स्थिति वाह्य संसार में है तो हो, हुम उसे मालुम नहीं कर सकते हैं। वह इन्द्रियक्षान का विषय नहीं है। पेसी गुप्त वस्तु का क्या करें जिसे न कोई जान सके और न कोई कमी काम में लासके । Berkeley बकेंसे, Hume ह्यूमादि बहुत तत्व वेताओं का थोड़े २ भेद से यही कहना है। हर्बर्ट स्पेन्सर भी कहता है कि जो कुछ इम देखते हैं चीजों के केवल वाहरी दृश्य हैं , उनके असली रूप नहीं।

वे चीजें वास्तव में क्या हैं, हम नहीं कह सकते। Kant केन्ट का कहना है कि सब वस्तुओं के दो कप हैं-एक (Phenomena) वाहरीं दृश्य और एक (Noumena) आन्तरिकतत्व जिस पर वह दृश्य दिखाई देता है। हमें केवल वाहिरी दृश्यों का शान होता है। प्रान्तरिकतत्व, आनेन्द्रियों से परे हैं। वौद्धविद्यानवादी कहते हैं कि जो कुछ है वह आन है, वाहरी संसार नहीं है; संसार हमारे आन का ही कप है।

सोपनदृर Schopenhaur ने सिद्ध किया है कि समस्त सँसार तीन वस्तुओं से बना है अर्थात् दिक्-काल-कारण। ये तीनों वस्तुएं हमारे मन की उपाधियाँ हैं, न कि कोई स्वतंत्र सत्तावाळी बाहरी संसार की वस्तुएं। जब इन तीनों का मनोमय होना सिद्ध हुआ, तो समस्त संसार भी मनोमय ही हुआ।

संसार के मनोमय होने में और बाहरी पदार्थों को केवल दश्यमात्र निश्चय करने में, बड़े २ तत्ववेत्ता सहमत हैं। यूनान देश के पैथेगोरस Pythagorus) से छोटिनस (Plotinus) तक, सभी तत्ववेत्ताओं का यह मत है अर्थात् Pythagorus (पैथेगोरस), Zenophone (जेनोफेन), Parmemides (पारमीमिडिज), Zeno (जिन्नों), Plato (छेटो), Platonus (छेटोनस), Kant (केन्ट), Fichte (फिक्टे), Hegel (हेंगिल), Heraclites (हरेकलीटीज), Bruno (ख्रनो), Spinoza। (स्पिनोज़ा) आदि भी यही कहते हैं।

ह्मास्यमत, ग्राधिमौतिक और श्राधिवैज्ञानिक मतों के बीच में है। वेदान्तमत, ग्राधिवैज्ञानिक ढँग का है, बल्कि इस में श्रीर भी कुछ विलज्ञणता है।

जब निद्रा में स्वप्न दिखाई देता है, उस समय क्षानेंद्रियों का सम्बन्ध बाहरी संसार से कुछ नहीं रहता है। इसिलये वे बाहर से संसार रचने की कोई सामग्री नहीं छाती हैं। तथापि स्वम में बाहरी सेसार के सद्श दश्य दिखाई देते हैं। जब तक स्वप्न अवस्था रहती है तो स्वप्न के सभी दृश्य ग्रन्युक सत्य मालूम होते हैं, परन्तु जागृतावस्था माने पर वे सब मिथ्या हो जाते हैं। यदि संसार रचना के लिये किसी जड़ वस्तु का दोना ग्रावश्यक होता तो वे स्वप्न में साँखारिक दश्यों के समान सत्यदृश्य क्यों बन जाते । दिक्-काल-कारण आदि मन के विकार हैं, कोई मन के बाहर स्वयँ सत्तावाळी वस्तुएं नहीं हैं। वेदंान्तियाँ का कहना है कि जैसे जागृतांवस्था के होने पर स्वप्न के दृश्य असत्य श्रीर मिथ्या मालुम हीते हैं वैसे ही जागृतावस्था के सांसारिक दश्य, शानावस्था प्राप्त होने पर मिथ्या हो जाते हैं, और तब पूर्ण ज्ञान हो जाता है कि संसार सर्वधा असत्य है। यह संसार हमारा मन किंदित है, बास्तव में कुछ नहीं है। यदि इस मत में यह दाका उठाको कि यद्यपि निद्रासमय झनिन्द्रियों का सम्बन्ध बाहर की वस्तुओं से अलग हो जाता है और वे मन करपनाओं के लिये बाहर से सामंत्री भी नहीं छाती हैं, तथापि जो सामग्री जागृतावस्था में, ब पहले छाई थीं, अभी बाक्री है, और उसी के आधार पर मन ने स्वप्त के वृष्ट्य बना लिये हैं। यदि 'यह सामग्री पहले से नहीं होती तो स्वप्न के दृश्यों का होना छस्ममव था। माना कि यह बात हो, तब भी दो बातें सिद्ध हो गई:-

१—ज्ञानेन्द्रियों से जाई हुई सामग्री पर ही मन, संसार के दश्य, करवना करता है।

2—इस कल्पना करने में, बाहुर जैसी वस्तुयें हैं वैसी ही मन कल्पना नहीं करता अर्थात् मनकल्पना से बाहुर वस्तु का जैसा का तैसा ही रूप नहीं रहता जैसा कि मनुष्य या किसी वस्तु का रूप दर्पण के प्रतिविद्य में होता है, बिल्क शहर की वस्तु और उस के आधार पर मन कल्पित वस्तु में बड़ा अन्तर होता है; क्योंकि मन उस जीज़ के वंनाने में श्रापनी युक्ति का भी प्रयोग करता है। जो वस्तुणं, स्वप्त में दिखाई देती हैं, वे द्यों की त्यों ही नहीं होती जिन्हें हम देख चुके हैं श्राणीत् देखी हुई वस्तुओं की सच्ची फोटो नहीं होती, बल्कि वे पेसी चीजें होती हैं जिन्हें इन क्यों में कभी नहीं देखा था, परन्तु जिस सामग्री से वे बनी है उसे श्रवहर देखा था।

यदि स्वप्न के दृश्य विल्कुल उन दृश्यों की फ्रोटो नहीं हैं जो हमारे देखे हुये हैं तो क्या विश्वास है कि जो दृश्य हम जगुतावस्था में देखते हैं वे बाहिरी चीजों की सच्ची फोटो हों। इस से यह सिद्ध हुआ कि जो संसार हम देखते हैं वह हमारा ही भनकिपत है। यदि बाहरी संसार है तो दृश्यमान संसार की फ्रोटो नहीं है। किसी बृज्ञ का प्रतिविश्य द्पेण में होना एकवात है, और कप रस गंध झादि गुणों को सत्तकर अपने ढंगपर एक नया बृज्ञ बनालेना दूसरी बात है।

इनमतों के अतिरिक्त एक तीसरा मत और है जो कहता है कि यह बात तो मानी कि संसार का झान मनकिएत है, और वास्तव में जो सांसारिक पराथों का रूप है वह हमें नहीं दिखाई देता, परन्तु क्या बाहर के सांसारिक परार्थ और मनकिएत परार्थों की एकसी हिचति है ? क्या उनहोंनों की सत्ता में कुछ चन्तर नहीं है ? । यदि संसार मनकिएत ही है तो जब मन चाहे तभी किसी वस्तु को उपस्थित कर भोग कर सकता है । क्या यह हो सकता है कि गुलाब का फूल होने बिनाही गुछाब की खुंगिध बाने लगे ? बिना कडूबाये ही मिछान्न का स्वाद आने छगे ? बिना वर्षा में भीगे ही मनुष्यं भीग जाये ? माना गुछाब का वास्तविक रूप कुछही है, छडू अपने रूप में कुछही है, हे हिकीन यह तो मानना भवस्य होगा कि ये चीजें बाहरी संसार में ऐसे चिन्ह या संकेत हैं कि जिनके होने पर ही मन उनकी करपना करता है ।

यदि ये संकेत बाहर नहीं होंतो यह करूपना होना असम्भव है। इसमत के लोग विद्यानवाद को सत्यसंसारवाद से मिलाते हैं। नती यही कहते हैं कि संसार सर्वथा मनकिवत है, उसकी बाहर सत्ता नहीं, क्योर न यही कहते हैं कि संसार के पदार्थ जैसे दिखाई देते हैं वास्तव में वैसे ही हैं क्योर मनकव्यना उनकी एक सब्बी फोटो हैं।

गीताने, सांख्य और वेदान्तमतों को मिलाकर संसारोत्पत्ति मानी है, भ्रोर पंचमूतों के स्थानत्व—तन्मात्राओं—का स्थान स्थान द्यारा में रक्खा है। इसिल्ए गीता, मनोमय संसार को मानती हुई, यह भी भानती है कि बाहर के संसार में मानसिकदृश्य उत्पन्न करने के संकेत हैं जो तन्मात्रात्रों से निकले हैं।

संकेतवादियों से कुछ मेळ रखती हुई गीता यह विरोप कहती है कि न तो बाहर का संसार ही वास्तव में सत्य है और न मन कियत दूश्य ही सत्य है। इन दोनों की न्यावहारिक सत्यता है। वास्ताविक-सत्यता तो केवळ आत्मा में ही है।

विद्यानवादी मनकत्यनाओं को सत्य मानते हैं। ग्राधिमौतिक-वादी सांसारिक पदाणों को सत्य मानते हैं। संकेत वादी मनकत्य-नामों को मधिक सत्य भीर वाहरी पदार्थों को सैंकतमात्र सत्य मानते हैं।

गीता, मानसिक भौर सांसारिक दश्यों को व्यावद्वारिक सत्य के न्यूनाधिक भश्य मान कर, वास्तविक सत्यता भारमा में ही मानती है। यही इस विषय में इस का सिद्धांत है।

भोत्त क्या है ? इस विषय को पाश्चात्य विद्वानों ने धर्म पुस्तकों पर ही छोड़ दिया है। अध्यात्मशास्त्र का विषय नहीं बनाया है। यदि कुछ विचार मी किया है तो वह अधूरासा है। भारतीय-शास्त्रों ने इस विषय को अध्यात्मशास्त्र में रस्त कर ख़ूब विचार किया है।

विवेक द्वारा प्रकृतिरचना का पुरुष के सामने से हट जाना भीर पुरुष का अकेला रह जाना अर्थात् कैन्नस्य भवस्या में होना, सांख्य मता- मुसार मोत्त है। इस मोत्त में पुरुष का किसी दूसरे पुरुष से मिल जाना अथवा पुर्योत्तम-परमातमा-में स्वय हो जाना नहीं माना है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों का मत है कि जीव संसारचक्र से छूट अपनी , स्वयँ व्यक्ति रखता हुआ मोत्त में ईश्वर का परमानन्द मोगता है। यही स्वयं है।

आत्मा का जीवरूप छूट जाना श्रीर जन्ममरख्उपाधियां का चक नष्ट हो जाना श्रीर उस की परमात्मा अथवा ब्रह्म से उपाधिराद्वित पेक्यता हो जाना, वेदान्त की मोस्न है।

श्रह्म और आत्मा में सदेव वास्तविक ऐक्यता है; परन्तु ज्यावहा-रिक भिन्नता दिखाई देती है। अर्थात् यह ऐक्यता उपाधि सिहत है। जब उपाधियां, जिन के कारण शुद्ध ऐक्यता भिन्नताप्रधान दिखाई देती है, श्लानअग्नि से नष्ट हो जाती है और केवल शुद्ध ऐक्यता रह जाती है, तब मोन्न होती है। इस मोन्न में न तो दूसरे पुरुषों से भिन्नता हो रहती है जैसा कि सांख्य का मत है, और न जीव की व्यक्ति ही रहती है जैसा कि न्याय और वैशेषिक का मत है। इस मोन्न में तो परमात्मा और आत्मा की शुद्ध ऐक्यता ही है। उपाधियां, जिन के कारण आत्मा, जीव रूप होकर, जन्ममरण के चक्र में आई मालुम होती है दूर हो जाती हैं। अध्यात्मविषय में हमने पाँच बाते कही हैं:— (१) आत्मर श्रह्म (२) श्रात्मा की नित्यता (३) आत्मा और श्रह्म की ऐक्यता (४) संसार की व्यावहारिक सत्यता और (५) मोन्न रूप।

इस में से नम्बर २, ३ और ५ पर तो पाश्चात्य ग्रध्यात्मशास्त्र चुप से हैं, श्रीर १ श्रीर ४ विषयों पर उन के शास्त्रीय विचार गीता के पीछे हैं। गीता में इन पार्चो विषयों पर पूर्ण विचार किया गया है। इसी का दिग्दर्शन इस लेख में कराया है। इस विषयों में पाश्चात्य श्राध्यात्मिक विचारों से गीता के विचारों की उत्क्रप्रता है।

#### मनोविज्ञानशास्त्र (Psychology)

इस विषय में गीता का कथन है कि बुद्धि से अहँकार उत्पन्न होता है; सात्विक अहुँकार से पाँच झानेन्ट्रियाँ, पाँच कर्मेन्ट्रियां श्रीर मन वनते हैं, और तामसी झाँहकार से पाँच तनमात्राएं बनती हैं, जो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श श्रीर शब्द के स्तरिस्थान हैं, श्रीर जिन से पँच महाभूत-श्राकाश-जल-वायु-अग्नि और पृथ्वी तत्व उत्पन्न हुये हैं। म्रानेन्ट्रियों द्वारा वाह्य पदार्थी में रूप रसादि का अनुभव होता है, परन्तु यह तभी होता है जब इन के साथ मन भिलता है। मन, इन्द्रियाँ द्वारा लाये हुये अनुभवों को बुद्धि के सामने रखता है । बुद्धि इन का निर्याय देती है, जिसे मन, कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्य्यपरिणित करता है। तब सब इन्द्रियाँ अपने २ काम करती हैं। इन सब के मिलने का स्थान आत्मा है, जो मन बुद्धि से परे हैं। यदि यह आधार नहीं हो, तो ये सब देन्द्रियां मिलकर भी एक काम नहीं कर सकती हैं। ग्रात्मा अनादि-ध्यमर-अजर-नित्य और परिवर्तनरहित है। इन्द्रियों की कियाओं के साथ अहँकार मिलने से ममत्व होता है, छीर इन सब कियों का स्मृतिपटल पर शॅकित होने से, संस्कार वनते है। इन्हीं से कर्म-अकर्म-पाप-पुग्य आदि का चक्र चलने लगता है। इस चक्र के चलने से अहँकारिलप्त जीव की बार २ जन्म लेना पहता है। श्रातमा जन्म नहीं छेती है। केवल पहुँकार, वुद्धि, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां तनमात्रापं और मन-इनका पिन्ड जिसे सुक्ष शरीर कहते हैं, जन्म लेता रहता है, और वही सुख दुःखं जरा मृत्यु ग्रादिका स्थान है। पास्रात्य पंडिता ने मनोविश्वान शास्त्र में जो तत्व वताये हैं, वे सभी इस के भीतर आजाते हैं। ये पण्डित आत्मा के रूप तक नहीं पहुँचते हैं। केवल · ( Ego ) का विवेचन करते हैं जिसे सुहम शरीर कहते हैं । गीता, खुहम ्रशरीर Ego को ज्यावहारिक जीव कह कर, श्रात्मा के झान पर पहुँच गई है।

पाश्चात्य पंडितों का मनोविज्ञानशास्त्र श्रध्या है; क्योंकि उन्होंने उस के संग उस शास्त्र की योजना नहीं की है जिस के द्वारा स्मृतिगुप्त संस्कार व्यक्त हों श्रथवा इन्द्रियां और मन वशीभूत हों, बुद्धि के सात्विक् माव प्रादुर्माव हो एवं बुद्धि शुद्ध होने पर श्रात्मा स्वरूप का श्रमुमव कर सके। पाश्चात्य विद्वानों ने ध्रभी ऐसे गारवशाली शास्त्र का श्राविष्कार नहीं किया है परन्तु भारतवर्ष में यह शास्त्र सहस्रों वर्षों से प्रचलित है। इस का नाम योगशास्त्र है। इसी के द्वारा मनोविज्ञानशास्त्र की सत्यता की जाँच हो सकती है। योगवल से मन की श्रोनक गुप्तशिक्षण जागृत हो सकती है। (योग दर्शन पर लेख देखों) इस सम्बन्ध में इतनी वात और याद रहे कि श्रात्मा को छोड़ और सब इन्द्रियाँ सूक्ष्म प्रकृति के अँशों की वनी है।

#### श्राचारशास्त्र (Ethics)

प्राचारहास्त्र का उद्देश पुण्य-पाप तथा प्रच्छे थेर कमीं का विवेचन करना है। प्रच्छा कमें क्यों करें ? बुरा वर्शे छोड़ें ? इसका उत्तर तीन प्रकार से दिया जाता है प्रधीत आधिमीतिक, आधिदेविक और आध्यात्मिक दृष्टियों से। इस कार्य्य के करने से लाभ होगा, सुख होगा, हमारा, हमारे कुटम्बियों, मित्रों प्रवं समस्त संसार के मनुष्यों का लाम होगा-इस बुद्धिविचार से कर्म करना, प्राधिमीतिक दृष्टि है। इसमें केवल शुष्कवृद्धिविचार है जिस से मृत्र हो सकती है। यह काम हमारा अन्तकरण टीक समस्ता है; इसलिये इसे करना चाहिये-यह आधिदेविक दृष्टि है। इसमें यह शुटि है कि सबका अन्तकरण पक्सा नहीं होता है। सभ्यता, विद्या सरसंगादि का प्रमाव अन्तकरण पक्सा नहीं होता है। सभ्यता, विद्या सरसंगादि का प्रमाव अन्तकरण की वृत्ति वनने में बहुत कुछ पड़ता है; इसिलये अन्तकरण हमेशा सच्चितता नहीं है। यह कर्म करना हमारी आत्मा के उपयोगी है या नहीं ? परमात्मा आत्मा की पेक्यता

वताता है या नहीं ? जो समस्त संसार की आत्माओं के साथ हमारा गाढ़ सम्बन्ध है और जिसके कारण जो हमें अभिय और ग्रुरा है वह सभी को वैसा है या नहीं ? इस विचार से काम करना आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार है। गीता, आचारमार्ग में इस दृष्टि को प्रधान मानकर, निष्कामसाम्ययुद्धिसंयुक्त कर्म करना कहती हैं। जो इस दृष्टि से काम किया जाता है यह कदापि पापकर्म नहीं होता है। पाआत्य पंडितों में आधिमौतिक और आधिदैविक दृष्टि मानने वाले बहुत हैं, आध्यात्मिक दृष्टि मानने वाले हैं; परन्तु ये इस का विचार इतनी स्पष्टता और सरताता से नहीं करते जैसा कि गीता करती है। गीता कर्म की उत्पत्ति गुयों से मानती है। रजोगुण से काम उत्पन्न होता है, काम से कोय, कोध से मोह, मोह से बुद्धिम्नम, और वुद्धिम्नम से सर्व नाग्र होता है। पाप का यही कारण है।

ध्यातमा, कर्म नहीं करती है, न उस का सुख दुःख भोगती है। इन सब का सम्बन्ध अहँकारप्रधान स्हमशारीरिकजीव से ही है, ध्रीर वहीं कर्म के चक्र में पड़ता है। रजोगुण दवन से सत्वगुणका प्रादुर्माव होता है, जिस से अच्छे कर्मों में प्रमृति होती है। किये हुये कर्मों का नाश नहीं होता है। वे सब संचित होते जाते हैं। जीव को उन के फल भोगने के लिये धार २ जन्म लेना पड़ता है। कर्म तीन प्रकार के हैं:-संचित, क्रियमाण और भावी।

जय सँचित कमों का आरम्भ हो जाता है तो उनका नाम किय-माण कमें होता है, और जिनका आरम्म नहीं हो वे मावी कमें कहजाते हैं। किसी ने हत्या, चोरी और परस्त्रीहरण—तीन अपराध किये हैं। ये तीनों उस के सँचित कमें होगये। पुलिस को इन में से एक अपराध भर्षात् चोरी का पता जगा। उसने खोजकर अपराधी को एकड़ लिया। अब समस्त्रों कि चोरी के साचित कमें के फल का आरम्म हो गया। इस लिये यह कियमाण कम होगया। इस (चोरी) श्रपराध का निर्णय होने पर इस मनुष्य को दँड मिला, जो उसे भोगना ही पड़ा; परन्तु श्रमी दो अपराधों के फल, और भोगना रहगया है। जिस श्रपराध का फल श्रारम्म हो गया, उसे तो मनुष्य रोक ही नहीं सकता है, परन्तु जो धान वाले कर्मफल हैं अर्थात् इत्या श्रीर परस्त्रीहरण श्रपराधों के फल, उन के रोकने की चेष्टा कर सकता है।

यन्त्रे कर्म करने और शुद्धनृति रखने से मनुष्य याने वाले फलभोगों से भी यच सकता है, अथवा उन के कपाय को कम कर सकता है। आगे यन्त्रे फल संचित हों, ऐसा करना, यागामी संचित कर्मफल भोगों को रोकंना और यागे के लिये अन्त्रे कर्म सँचित करना, मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धिपराकाष्टा के भीतर है। मनुष्य केवल परतन्त्र ही नहीं है। गीता का यह कर्मविपाक अन्त्रे कर्म करने का उपयोगी है।

पाश्चात्य पंडितों के कर्माविपाकविचार संकुचित हैं। ये, श्राचारशास्त्र में अच्छे बुरे कर्म करने का निश्चय, श्राधिमौतिक श्रीह श्राधिदाविक दृष्टियों से करते हैं, और कर्मविपाक विचारों को श्रधूरा होड़ देते हैं।

तीसरी बात, जो पाश्चात्य, आचारशास्त्र में नहीं है भौर जिसे गीता बताती है, यह है कि वे अच्छे कर्म कोन से हैं जिन से जीव, कर्मविपाक के कगड़े से छूट कर, मोत्त प्राप्त करें । यह विषय पाश्चात्यपंडितों ने धर्मशास्त्रों पर ही छोड़ दिया है, और उनमें शास्त्रीयरीति से इस विषय पर विचार नहीं किया गया है।

गीता कहती है कि सब कर्म इच्छा से होते हैं। वासना का शुद्ध होना आवश्यक है। इसी से साम्यवुद्धि होती है। निष्कामकर्म करने से वासनाप शुद्ध होती हैं। परन्तु यही फळ झानमार्ग-मिक्तमार्ग-ध्यान-योग से भी हो सकता है। यदि और कोई भी उपाय हो, जिस से यह फल हो सके, तो वह भी मोक्तप्राप्ति का साधन है। एक उपाय ही नहीं है कि जिस से यद्द फल होता है। जैसी श्रद्धा होती है वैसी ही भावना होती है।

जब चासना अच्छी होजाती है, जब दृषित कर्म हुन्द जाते हैं और ब्रह्म जीव की पेक्यता दीखने जगती है, तो मनुष्य इसी जन्म में जीवन् मुक्त हो जाता है, और मृत्यु के पश्चात् उस का फिर जन्म गहीं होता है

#### सामाजिक शास्त्र (Social Polity)

वाचारधर्म से ही सामाजिक स्थित और सुत्रार का सम्यन्य है। इस विषय में पाश्चात्यपंडित आधिमौतिक सिद्धान्त लगाते हैं; परन्तु गीता इन में भी आध्यात्मिक हाए का प्रयोग करती है। जिस समाज में गीता के अनुसार आध्यात्मिक हाए के सदाचारी मनुष्य हैं, वह समाज श्रेष्ट है, और उस की स्थिति अटल है। गीता कहती है कि समाज के सचालन के लिये अर्थात् लोकसंत्रह के लिये जीवन्मुक मनुष्यों को भी संसार में ही रहना चाहिये। इस के उदाहरण-राजा जनक-श्रीरुष्ण, श्री रामचन्द्रादि हैं। गीता, जातियों के नियतधर्म बताती है। समाज में ग्रुखाचारी मनुष्य होने को कहती है। प्रत्येक को अपना नियतकर्म निष्काम होकर करने का उपदेश हेती है, धौर इस प्रकार सामाजिक वृद्धि की अटल स्थितिकरती है। नाश्चात्य सामाजिकस्थित के पेसे महस्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं हैं।

### धर्मशास्त्र (Theology)

इस शास्त्र में प्रायः ईस्वर-जीव-मोक्ष और मोत्तप्राप्ति के साधनों का वर्णन होता है। ईश्वर विषय में ये मत प्रचलित हैं:—

निर्मुण ब्रह्म ( Impersonal God, Spiritual Monism ) सगुण ब्रह्म ( ईश्वर ) ( Personal God, Theism ) विश्वज्ञहाचाद ( Pantheism ) प्रोनेक ईर्यरचाद ( Polytheism )

पाश्चात्यधर्म में सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। इस कारण इस के धार्मिक सिद्धान्त झानशास्त्र के तर्क से कर जाते हैं। गीता में सगुण ध्रोर निर्गुण ब्रह्म, दोनों का वर्णन है। वास्तव में ब्रह्म निर्गुण ही है, परन्तु माया या प्रकृति के रूप-नाम जाज-के कारण सगुण हो जाता है। निर्गुण से सगुण होने की क्रिया में ब्रह्म में विकार नहीं होता है अर्थात् सगुण इस निर्गुण ब्रह्म का परिणित नहीं है जैसे कि दही दूध का है। ऐसा हो तो विकार अवस्य होगा। जैसे एक सूर्य निर्मल ध्राकाश में शुद्ध ज्योतिस्वरूप दिखाई देता है और वादलों से आच्छादित होकर मिलन दिखाई देता है, परन्तु सूर्य में कोई विकार नहीं होता है वैसे ही ब्रह्म ध्रापने स्वरूप में निर्गुण है; मायाउपाधिआवरण से सगुण हो जाता है।

निर्मल प्रकाशवान दुर्श्य सभी को उपयोगी नहीं है। घोथी को कपड़े दुखाने के लिये निर्मल सुर्थ की आवश्यकता है। पिथक को जिसे अभी दूर जाना है तेज सुर्थ की आवश्यकता नहीं, बिक बादजों से आवश्यकता नहीं, बिक बादजों से आवश्यकता नहीं नहीं तो मार्ग दिखाई ही नहीं देगा। पेसे ही निर्मुण और समुण ब्रह्म की अपनी २ आवश्यकतानुसार आवश्यकता है। गीता दोनों स्वक्तों को मानती है। जब ईश्वर विषय में वैज्ञानिकतक उपस्थित होता, है तो निर्मुण ब्रह्म की अटल सूमिपर गीता अपनी विजय पताका फहराती है, और जब संसारीमनुष्यों को मोक्सलाधनमार्ग, बताना होता, है, तब समुण ब्रह्म का उपदेश करती है। इसके सिवा गीता यह भी कहती है कि ब्रह्म एक है और सबका आधार है, इसिले बिवा गीता यह भी कहती है कि ब्रह्म एक है और सबका आधार है, इसिले पुजा करते हैं वे ईश्वर ही को पुजत हैं। इस तरह अनेकईक्वरवाद (Polytheism) का भी

समर्थन करती है। पाश्चात्य पंडित, अनेकईश्वरवाद (Polytheism) का अर्थ पृथक पृथक बहुत से ईश्वरों की पृजा करना कहते हैं। उनका यह अर्थ ठीक नहीं है। ऐसे Polytheism को गीता नहीं मानती है।

सब संसार में जो कुछ है वह ईरनर ही है। इस मत के मानने वाले यदि यह माने कि ईट, पत्थर वृत्तादि सभी ईश्वर के स्वरूप हैं अधवा ईश्वरकी देह के बने हैं जैसा दही दूध का बना है, धोर जितना ससार है उतना ही बड़ा ब्रह्म है, तो इस से गीता सहमत नहीं है। पाश्चात्य पंडित विश्वब्रह्मचाद (Pantheism) का यही अर्थ मानते हैं। यदि इस का यह धार्थ किया जाय कि समस्त संसार के पदार्थ ईश्वर के घाधार पर ही हैं, और जो श्रेष्ट धौर उत्तम पदार्थ हैं, उन में ईश्वर की ही प्रधिक मलक है, और ब्रह्म इस समस्त संसार का व्यापक होने पर भी उसके पर अपरमित खौर है, तो गीता इस बात को मानती है, और उस के कई अध्यायों में इस मत का ग्राच्छा वर्णन है। उस का विराद रूप इसी मत का प्रमाण है। इस लिये गीता संसार की सब धर्मपुस्तकों के मतों को मानती है धौर

ी का खंडन नहीं करती है। मोत्त साधन विषय में पाश्चात्य धर्म पुस्तकों में लोकलेवा झौर भक्तिमत प्रधान है। गीता इन सब को मानती हुई अनेक मार्ग बताती है; जैसे ज्ञान कर्म-ध्यान-सन्यास-याझ-मार्गादि। यह किसी मार्ग की निन्दा नहीं करती है। शुद्ध वासना सब साधनों का तस्व है। गीता का उपदेश संकुचित नहीं है, यिक पूर्ण झौदार्य। कर्मकाण्ड के विषय में अन्य धर्मवालों की झनक भिन्न २ विधियां हैं। सब वैदिक और स्मार्तिक कर्म बताती हुई, गीता जाति नियतधर्म करने का उपदेश करती है। मगुष्यों को कर्मकाण्ड के सभी साधन करने की स्वतन्त्रता देती है। यह न तो किसी पूजा पाठ नियम अथवा धार्मिक अनुष्टानों को करने को कहती है, और न किसी की निन्दा करती है।

# श्री कृष्णचन्द्रजी के जीवन पर एक दृष्टि ।

प्राचीन भारतर्वप में सब से बड़े प्रभावशाली महान पुरुष थ्रीछुण्णवन्द्रजी हुए हैं। इनके नामकी प्रभाज्योति से भारत प्राकाश आज
तक प्रकाशित हो रहा है। इनके नाम की महिमा का चमत्कार चतु दिंक्
स्यात है। दिन्दुजातिमान इस नाम को बड़े सन्मान और श्रद्धा से
मान रही है। श्री कृष्णचन्द्र जी की बुद्धि का चमत्कार ऐसा श्रद्धुत
और प्रभावशाली था कि संसार भर के समस्त काय्यों में इन को
सफलता प्राप्त हुई थी। श्रमणित नरनारी श्री कृष्णचन्द्रजी के विचित्र
भीर श्रद्धुत कार्यों का गुणानुवाद मुक्तकण्ठ से कन्ते हैं। उनके उपदेशों का प्रभाव श्रभीतक हिन्दुजाति के हदयाद्भित है। भगवद्गीता,
भारतवर्ष के विज्ञानिक और धार्मिक विचारों की चरमसीमा बतलाने
वाली है। उसका पाठ असंख्य घरों में प्रतिदिन होता है।

श्री कृष्णजी के जन्म के विषय में कुछ विद्यानों की सम्मति है कि उनका जन्म इज़रत ईसा से ३१८५ वर्ष पहते हुआ था। इस सम्मति की पृष्टि अब इतिहास द्वारा भी होती है। यूनान देश के विद्यान मेगा-स्थिमीज़ ने—जो सिकन्दर वादशाह के पीछे हिन्दुस्तान में सम्राष्ट्र चन्द्रगुप्त के दरवार में रहा था—लिखा है कि डीनस्स से चन्द्रगुप्त राजा तक १५३ राजा, ६०४२ वर्ष में हुये थे, और हेरेकुलीज़ डीनस्स से पन्द्रह पीढ़ी पीछे हुआ था।

इन्हीं महानुभाव के निम्नलिखित वाक्यों से ज्ञात होता है कि हेरेकुलीज़ से अभिप्राय श्री कृष्णचन्द्रजी से हैं:—

"हेरेकुळीज ने बहुत सी स्त्रियों से विवाह किया था, और सुरवंशी लोग—जिनका निवासस्थान मधुरा था—इनकी पूजा करते थे। यदि १५३ में से १५ घटा दिये जांय, तो १६= वचते हें।" इन महानुभाय के लेखानुसार १३= पीढ़ियां रूप्णजी से चन्द्रगुप्त राजातक, हो चुकी थीं; यदि एक पीढ़ी कम से कम २० वर्ष की समक्षी जाये, तो श्रीरूप्णजी के समय से २०६० वर्ष हो चुके थे। इस प्रकार पूर्वोक्त समय हज़रत ईसा के जन्म से २०७२ वर्ष पहले का ठीक निश्चय होता है। रूप्णजी की अवस्था, सत्यु के समय, ११३ वर्ष की थी। उस समय इतनी दीर्घायु होना असम्भव नहीं था। इस सम्यन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि महाभारत में लिखा है "युधिष्ठिर के राजस्य यह के समय श्री रूप्णचन्द्र जी की वृद्धावस्था थी"। यह वात शिद्युपाल के वाक्यों से स्पष्ट विदित होती है। पूर्वोक्त विचारों से झात होता है कि इनकी अवस्था, राजस्य यह के समय -४ वर्ष की थी।

कृष्णजी का जन्म द्वियों के याद्ववंश में हुआ था। याद्वजीग मथुरा के ज़िले में यमुना नदी के तद पर रहते थे। इनका पहला राजा स्रसेन मथुरा का था। इस राजा के पुत्रों में से पक का नाम सासुदेव, श्रीर पुत्रियों में से एक का नाम कुन्ती था; इसी बंध में से मोजाओं के राजा ने इस पुत्रीं को गोद ले लिया था। वासुदेव की पत्नी देवकी के गर्म से कृष्णजी का जन्म हुआ था; दूसरी स्त्री रोहणी से वलरामजी उत्पन्न हुए थे। कुन्ती, जिसका विवाह राजा पांडुके साथ हुआ था, गुधिष्टिर, भीम, और अर्जुन की माता थी। इस प्रकार ये तीनों, श्रीकृष्णचद्र श्रीर वलराम, आपस में एक प्रकार के भाई हुए; क्योंकि वासुदेव और कुन्ती सगे भाई बाहिन थे। वासुदेव ने इस भय से कि राजा कंस, 'बालक श्रीकृष्ण'का वध न करा डाले, उनको यमुना पार गोकुल में भेज दिया था। गोकुल ही में इनका लड़कपन व्यतीत हुन्ना।

अद्भुत सुन्दरता, पराक्रम और तीव बुद्धिमत्ता के कारण, जो कोई इंग्णजी से मिलता था, उन पर मोहित हो जाता था। इंग्णजी के विषय

में व्यभिचार और दूषित कर्मों का जो अपवाद है वह अमुलक है। महाभारत में इसका कहीं भी वर्णन नहीं है। भागवत पुराण श्रीर गीतगोविन्द ही इसके प्रमाण में बताये जाते हैं। कुम्एजी को वालकस्वरूप में माननेवाले सक्तजनों का अधिक प्रेम और मिक ही इसका कारण है। फ्या यद्व वात नहीं देखी जाती है कि माँ वाप अथवा दूसरे कुट्र-म्बी जन बच्चों से अधिक मोह और प्रेम के कारण उनको दूषित नामों ं से पुकारने लगते हैं, अथवा उनपर दूषित कमीं का ग्राइंप करते हैं ? इसमें कोई संदेह नहीं कि यादवलोग ग्वाला थे और दूसरे क्षत्रियों के देखते मिलने ज़लने इत्यादि व्यवहारों में श्रधिकरुकावट वा बंधन नहीं रखते थे। इनकी स्त्रियों के चालदाल वर्ताव में स्वतन्त्रता थी। यह हो सकता है कि बुन्दावन की खियाँ इस सन्दर मनोहर राजकमार के साथ अधिक भीति और मोह रखती रही हों; परन्तु इसका तात्पव्ये यस नहीं है कि उनमें विषयभोगादि की कोई इच्छा थीं। यह भी हो सकता है कि सच्चे वात्सक्य प्रेम के कारण उनको कृष्णजी के वृन्दावन से चले जाने पर वड़ा शोक् हुआ हो। इसके अतिरिक्त भागवत पुराया में यह भी उल्लेख है कि जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र ने इन स्त्रियों के साथ ख़ेल-कृद कीड़ादि की उस समय उनकी अवस्था छः वर्ष की थी। राधा का तो नाम भी इस पुरास में नहीं मिलता है। योधा, नीतिज्ञ, उपदेशक, तत्ववेका-इन रूपों में श्रीकृणचन्द्रजी का वर्णन मंद्रामारत में पाया जाता है। दोषदर्शी जनों को इस वर्णन के पढ़ने से निश्चय हो जांयगा कि दृषित और महिन क्रमीं का आन्नेप जो श्रीकृष्णजी पर किया जाता है, वह अमृलक है। हालही में किसी विद्वान ने जिला है— "जो जो दोष ग्रीर कलङ्क श्रीकृष्णजी पर जगाये गये हैं, वे, यदि उनसे भी श्रधिक होते, तो भी कुन्एजी ने भगव-द्वीता द्वारा जो ज्ञानोपदेश किया है उसके सामने कुछ भी न होते, और गुणाधिक्य से छिप जाते।"

गीता वह प्रभावशाली ष्रामृतरूपी त्रन्थ है कि जिसके कारण संसारभरके उपदेश-वक्ताश्रों में श्री कृष्णचन्द्रजी की उचतम पदवी है, एवं वे, ईश्वर माने गये हैं।

सितमार्ग का उपदेश जो छणाजी ने किया है, कुछ अपवाद पा कारण हो सकता है। तुच्छ बुद्धिवांने भक्तजनों के प्रचार में इस मार्ग के उत्तम पारमार्थिक उद्देश्यों का आशय गिर गया हो, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि ईश्वरभीकि की यहुछता को, विषय-भोग के प्रेम से गहराई बतलाने के लिये जो उपमादी जाती है, वह केवल उपमामात्रही है, न कि यह कि होनों भाव पक ही हैं। जो प्रेम धार्मिक मनुष्य ईश्वरप्रति धनुभव करता है, उसकी उपमा उस प्रेम से दी जांसकती है जो एक छी अपने प्रेमी पुरुप के साथ रखती है। परन्तु इसका यह प्रर्थ नहीं है कि यह दोनों प्रेम पकड़ी प्रकार और जाति के हैं। इन दोनों प्रेमों में वड़ा अन्तर है-एक तो पवित्र- और पारमार्थिक है, श्रीर हुसरा भितन और स्वार्थ से सना है।

कृष्णजी के जीवन में मधुरा के दैत्यराज कंस की वध करना द्वितीय घटना है। कंस ने यादवों को मधुरा से निकाल दिया था छोर मंगध देश के महापराक्रमी राजा जरासंध की दो पुत्रियों के साथ विवाह कर लिया था। इसी सम्बन्ध के वल से कंस ने अपनी जाति वालों पर ध्रत्याचार करना आरम्म किया, धौर दिन प्रति दिन खलवान और पेश्वयंसम्पन्न होता गया। पीड़ितजातिवालों ने श्रीकृष्णजी से प्रार्थना की कि मगवन इस दुए राजा के अत्याचारों से हमारी रत्ना कीजिये। धर्म-स्थापन के लिये कृष्णजी और उन के माई बलराम ने दुए कंस का वध किया। जरासंध को अपने जामाता के मारे जोने पर बड़ा कोध धुम्रा, धौर उसने मथुरा पर आक्रमण कर दिया। पहली वार इस को पीछे हुस्ना पड़ा, और तीन वर्ष तक शान्ति रही। परन्तु यह शान्ति पेसी ही थी जैसी प्रचंड वायुशवाह के पूर्व होती है। अगिणत सेना ले कर

ंजरासंघ ने फिर चढ़ाई की कौर कृष्णजी को सङ्घटुम्ब मधुरा से भागना पड़ा । पश्चिम समुद्र के तट पर जाकर इन्होंने द्वारकापुरी वसाई । इस स्थान में शान्तिपूर्वक निवास करते हुए यादववंश की वड़ी वृद्धि हुई श्रीर अहारह हज़ार याद्वा का समृह हो गया। वृष्णी, माधव, भी-जादि नामों से यह लोग विख्यात हो गये। इस समय कृष्णजी का नाम वीरों और नीतिहों में सुप्रसिद्ध हो गया था। जनसमूह के ये प्रसिद्ध नेता गिने जाते थे । इन्होंने नये २ उपवासस्थान वंसाये थे, और काठियावाह वसाना इनमें पंहेलां काम था। कृष्णजी की नंवे उपवासस्थान स्थापन करने की योग्यता और बुद्धिचमत्कार इसंसे ज्ञात होगा कि पांडवें। ने इन्हीं की सहायता से यमुना नहीं के पश्चिम भाग में पक नया निवासस्थान बनाया था। द्रौपदी से विवाह करने के पश्चात्राजा धृतराष्ट्र ने पांडवीं को पाँडु राजा के पुत्र मानकर यमुना के पश्चिम में खांडववन दिस्सें में दिया था। तब कृष्णजी ने इस भयंकर वन को दावानल द्वारा जला देने का साहसी उपाय वृत्ताया। इस प्रकार, ज्यती जानवर ग्रीट नीच कुटिल मनुष्य, वन से निकल गये, और इस स्थान पर पांडवों का गौरवशासी राज्य स्थापित हुआ।

इस देश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ बनाई गई, जिस की अब दिली कहते हैं। मित्रता के विचार से देखा जाय तो पांडवों की, विशेष कर अर्जुन की, रुष्णाजी ने बड़ी सहायता की थी। और क्या और अर्जुन बड़े गाढ़े मित्र थे। पांडवों के बन जीने पर ओर क्या ही ने उनकी सहायता की थी। यह रुष्णाजी ही थे जिन्होंने नगध के महापराक्रमी राजा जरासंध को मारने में पांडवों की सहायता की, जिससे पांडवों का भारतवर्ष में चक्रवर्ती राज्य हो गया। यह ओर स्पायन्द्र ही थे जिन के सपदेश और नीतिपूर्ण उपदेशों से पांडवों ने कीरवों पर जय पाई। इनकी सहायता से ही पांडवों की राज्यवृद्धि हुई। यद्यपि समस्त जीवसमूह के प्रति इनकी दया और स्पालुता थी, तदिप लीकिक चातुर्य धीर बुद्धिमत्ता, जिसके द्वारा अध्में और वल पर सत्य को जय प्राप्त होती है, इन में कुट कुट कर भरी थी। यदि रुज्जजी ने दुर्छों और अत्याचारियों का बध किया तो यह कोई स्वार्थ प्रेरणा से नहीं किया, किन्तु परोपकार और सत्य मर्यादा स्थापन फरने के लिये। शिशुपाल का बध किया तो जानकर नहीं किया। जब इस दुए ने इनके धाचरण और प्रतिष्ठा पर दोष लगाया तो रुज्जजी को अपने तई निदींप प्रतीत करने के लिये विवश होना पड़ा। रुज्जजी ने शिशुपाल को बार र अवसर दिया कि वह उनका ध्रापमान न करे, परन्तु यह दुरुता करता ही गया धीर राजस्ययम्न के अवसर पर जो बड़े र राजा धीर महाराजा एकत्रित हुए थे उन की रिष्टे में रुज्जजी की प्रतिष्ठा नीची करना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझा; ऐसी दशा में रुज्जजी को उसका वध करने के लिये वाध्य होना पड़ा।

यदि क्रण्णजी की नीतिधुरंधरता के उदाहरण की झावश्यकता हो, तो क्रप्णजी की वह वकुता जो उन्होंने दुर्योधन की सभा में उस अवसर पर दी थी जब कि वह दोनों पक्षों में मेल कराने के अभिनाय से दूत वन कर गये थे, पूर्ण प्रमाण है। इस अवसर पर कोई वात अपने कार्य सिद्धि के छिये शेष नहीं रक्षी थी, परन्तु जय उनको ज्ञात होगया कि सफलता प्राप्त न होगी, तो बड़ी चतुराई से जौट झाय, और दुए कोरवों ने जो २ उपद्रव करने के प्रयास किये थे वे सब इनकी तीय दुद्धिमत्ता से वृथा हुए। क्रष्णजी ने प्रण किया था कि महामारत युद्ध में किसी तरफ से नहीं लड़ेंगे; दोनों पक्ष वालों के मित्र होने से दोनों से कह दिया था कि में नहीं छहुँगा। पांडवों की तरफ से अर्जुन ने केवर्ल श्रीकृष्ण को जिनका इस युद्ध में शक्त नहीं उठाने का प्रण था, लेलिया और दुर्योधन ने इनकी चतुरिकृषी सेना को लेलिया। ऐसा विचार किया कि अकेले निःशस्त्र श्रीकृष्ण अपनी सेना के बराबर नहीं हो। सकते।। महाभारत के युद्ध में आदि से अन्त तक कृष्णजी ने जो

निष्पत्तता का प्रण किया था उसे निवाहा। जो वलशाक्षिनी सेना दुर्योधन को दी थी, उसके बल से अधिक केवल निःशस्त्र कृष्ण का गौरव था।

कृष्णजी केंवल योधा, नीतिश और समाजसुधारक ही नहीं थे, किन्तु धुरन्धर धर्मापदेशक और विश्वानवेत्ता भी थे। भगवदीता कृष्णजी की प्रसर बुद्धि और उनके गौरव का प्रमाण है। केवल अपनी ध्रालोंकिकता ही के कारण ये भगवान विष्णु के स्वयं से बड़े अव-तारों में माने गए। हिन्दूजाति सहस्रों वर्षों से इनको ईश्वर मानकर पूजा और स्तुति करती चली आरही है। यह मानता और पूजा कृष्णजी की राजा युधिष्ठिर के राजस्ययन में शिद्युपालवध के पश्चात् धारम्भ हुई; क्योंकि उसी धावसर पर समस्त भूमंडल के राजाओं में इन की ऊँची पदवी मानकर ईश्वर भाव से पूजा की गई थी।

खानपान के विषय में कृष्णुजी शाकपात अञ्चादि के भोजन करने वाले थे, मांस मादिरा से पूरी घृंगा करते थे। यादववंशी इन दोषों से रिहत नहीं थे, परन्तु कृष्णजी को इन अखाद्य वस्तुओं से निरन्तर घृगा रही। सत्य का पालन करना, श्रसत्य का तिरस्कार करना, इनका सदैव नियम रहा। निर्वल को बलवान से रज्ञाकर, वलकी अपेक्षा सत्य को बड़ा समभा, उसका पक्त करना, इनके जीवन का नियम था।

राज्यप्रबंध कुशक्तता के उदाहरण में द्वारकापुरी की प्रवन्धकुशक्तता भीर यादवों की समृद्धि, ध्वाई जा सकती हैं। सत्य और धर्म पालन के आमेप्राय से अपने वंश का नाश होने पर भी, ध्राप उदासीन रहें। जब कृष्णजी ने देखा कि यादव छोग ध्रपने बळ ध्रीर धन के मद से गिर्वित हो रहे हैं, ध्रीर सत्य और धर्म के मार्ग से विमुख हो गये हैं, तो ऐसा उपाय किया कि जिससे उनका नाश हो गया। क्योंकि कृष्णजी का उद्देश्य तो श्रधम का नाशकर धर्म का स्थापन करना ही था।

इनकी मृत्यु के विषय में ऐसा जिला है कि जय इनके कुटुम्ब और वंश का नाश हो गया, तो कृष्णजी बन को चले गये थ्रोर जय एक वृत्त के नीचे सो रहे थे, एक व्याध ने हिरण के धोले से तीर मारा, जो इनके एक पैर में लगा श्रीर मृत्यु का कारण हुआ।

श्रीकृष्णजी के सचारित्र की सूचना उस दापथ से औरभी स्पष्ट होती है जो उन्होंने अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के मरे लड़के को फिर से जिलाने के समय की थी। यह पुत्रजीवनदान, कौरवर्णण को नाश से बचाने की इच्छा से, कुन्ती श्रीर द्रीपदी की विनती पर दिया था। शपथ के वाक्य ये हैं—" यदि मैंने हैंसी में भी कभी झूठ नहीं बोला हो, यदि युद्ध में कभी पीठ नहीं फेरी हो, तो यह वालक पुनर्जीवित हो उठे। मेंने धर्म और ब्राह्मणों का सदेव पालन किया है, इससे यह श्रीममन्यु का पुत्र जीवित हो जाय। कार्य सफताता के पश्चात् मैंने किसी से कभी श्रम्भाव नहीं रक्ता है, कंस-केशी को सत्य श्रीर धर्म के लिये ही वध किया है, इससे यह थालक फिर उठ सड़ा हो।"

इसके पढ़ने से झात होगा कि इस अवसर पर रूप्णाजी ने प्रापने योगवस अथवा दैनी शाक्ति से काम नहीं क्षिया है। काम लिया है केवल प्रापनी धर्मगीरवता, सत्यता, और नीरता से।

यही कारण कर्भयोगी छप्ण के आदर्श पुरुष होने का—देव तृत्य माने जाने का—है।

# श्रीकृष्णचारित्रका गूढ्आशय।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रज्ञांका चरित्र बड़ा श्रद्भुत श्रीर विस्मय-जनक है। सब श्रवतारों में कृष्णावतार सम्पूर्ण हुश्रा है। जितने कार्य श्रीकृष्ण के हैं, सब में श्रद्भुतता श्रीर महत्व भरा है। सामान्य मनुष्य इन रहस्यों के समभने में श्रसमर्थ हैं। जो श्रद्धा श्रीर विश्वास से श्रीकृष्णकी भक्ति करते हैं, उन्हें कोई सन्देह नहीं होता है, परन्तु जो बाद विवाद में रुचि रखने वाले हैं, उन्हें सर्वदा श्रीकाएँ हुश्रा करती हैं। जिन चरित्रों को वे समझ नहीं सकते हैं, उनमें होष श्रारोपण करते रहते हैं। श्रीकृष्ण के चरित्र में ऐसे मनुष्यों की दोप निकालने की निरस्तर चेष्टा रहती हैं।

नीचे कुछ ऐसे चरित्रों का गृह धाशय लिखा जाता है जिन पर सदैव धाक्षेप हुआ करते हैं।

## चीरहरण लीला।

पहले यह बतादेने की आवश्यकता है कि जिस समय के कार्य अथवा घटना पर विचार करना है, उस समयकी रीति और प्रथाओं का पूरा ध्यान रखना खाहिये। पेतिहासिक वृष्टि के बिना किसी पेति-हासिक घटना का पूर्ण निर्णय नहीं हो सकता है। जिस समय छेप्णा वतार हुआ है, उस समय बज में क्या क्या रीति हुरीति प्रचलित थीं और मसुष्य थीर खियों का परस्पर क्या व्यवहार था, यह जानना जकती है। यह बहुत पुराने समय की बात है। आधुनिक रीति व्यव-हारों की तुजना नहीं हो सकती है। दोषारोपण करनेवाले इस पेतिहासिक वृष्टि को भूल जाते हैं और प्राचीन से प्राचीन वातों को आधुनिक रीति और प्रधाओं की दृष्टि से देखने लगते हैं। इसमें बड़ी भूल होती है और प्राचीन कालिक वस्तुओं अथवा घटनाओं का पूर्ण विवेचन नहीं होता है।

अब यह बताना है कि जिस समय में कृष्ण भगवान वृन्दावन में थे, उस समय उस स्थान की सभ्यता-सम्बन्धी क्या दशा थी। कोई इति- हास नहीं है जिस से यह बात स्पष्ट और शीव मालूम हो जाय, परन्तु जिन पुस्तकों में कृष्णचिरित्र दिया हुआ है उन्हीं में उस समय के रीति ब्यंबहार की भाउक भी विद्यमान है। ध्यान से पहने से बात होगा कि वृन्दावन में स्त्रियों के नग्न स्नान करने की रीति चली श्राती थी। यह रीति अति निन्दनीय थीं और उसके दूरकरने की भी वेष्टाएं की गई थीं, परन्तु फलीमृत नहीं हुई थीं। इस क़ुरीति को दूरकरने का विचार श्रीकृष्णचन्द्रजी ने किया और यह निश्चय किया कि जब तक नग्न स्तान करनेवाळी स्त्रियों को उज्जादिलाने वाला दंड नहीं मिलेगा, तब तक इनकी यह क़रीति कुटना असम्भव है। अतः एक दिन जब बहुत विद्यां अपने वस्त्रों को किनारे पर घरकर नग्नस्नान कर रहीं थीं, श्रीकृष्ण भगवान जिन्हें यह श्रत्यावश्यक सामाजिक सुधार करना चा, इन वर्खों को क्षेकर एक वृत्तपर चढ़ गये ग्रीर जब स्त्रियां स्नान करके बाइर निकली और अपने वस्त्रीं की नहीं पाया तो बढ़े कर में पड़ीं। इस समय श्रीकृष्ण ने उनसे कहा " हे गोपियो ! तम बड़ी मुर्ल हो, तीर्थ-स्थान में नग्नरनान करती हो। इसका दंड यही है कि जयतक तुम नन्न अवस्था में आकर अपनेश्वस्त्र नहीं लेजात्रोगी तो मैं वस्त्र नहीं दंगां"। गोपियां वही जिलत हुई और उस दिन से उन लोगों ने प्रतिका की कि नग्न होकर कभी स्नान नहीं करेंगी। ऐसी प्रतिका करने पर जस्य ने सब बख है दिये, और इस प्राचीन क़रीति का उसी दिन से लोप होगया ।

अब प्रश्न है कि यह सामाजिक सुघार था या ब्यामिचार । कोई सममत्वार ममुन्य इसे बुरा नहीं कह सकता है । सामाजिकसुधारकों को सुधार करने में बड़ी बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं और दूसरों के उपकार के क्षिये अपनी प्रतिष्ठा तक खो देनी पड़ती है। सखे सुधार करनेवाले कभी विचल नहीं होते हैं और अपमान और सम्मान से उपेत्तित होकर अपना नियत कार्य करते ही रहते हैं। श्रीकृष्ण ने इस मात की कुछ परवा नहीं की कि लोग क्या कहेंगे। उनको जो सुधार करना था कर डाला। यदि श्रीकृष्ण का यह कार्य अनुचित श्रीर निन्द्नीय था, तो उन िख्यों के पतियों ने क्यों नहीं आन्दोलन किया और कृष्ण को क्यों नहीं वंड दिया। ऐसा तो कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत यह तो ज्ञात होता है कि इस कुरीति के दूर हो जाने से, कृष्ण की सभी ने प्रशंसा की। जैसा कृष्ण पर दोपारोपण वालों को यह कार्य बुरा और निन्दनीय मालूम होता है वैसा उन स्मियों के पति, भ्राता, पिता आदि को क्यों नहीं मालूम हुआ। इससे सिख है कि यह कार्य कोई निन्दनीय नहीं था। केवल सुधार के श्रीमप्राय से ही किया गया था।

इससे कृष्ण की सामाजिक सुधार की बुद्धिमत्ता पाई जाती है, न कि उनका दुराचरण। इसके सिवा इस समय कृष्ण की सात वर्ष की श्रवस्था थी। कौन कह सकता है कि ऐसे बालक को कोई काम-सम्बन्धी श्रमुराग उत्पन्न हुआ हो।

जो सक्ति मार्ग को मानते हैं उनका कहना है कि तन्मय भक्ति सब से श्रेष्ठ है। गोषियां कृष्ण में मिक्त करती थीं, परन्तु सर्वाङ्गिनी भक्ति नहीं थीं। इनको अपनी मिक्ति का अभिमान था। कृष्ण ने इसकी परीत्ता जी है। इस परीत्ता में जब गोषियां पूरी नहीं निकलों तो कृष्ण ने उनके अभिमान का उपालम्म किया, जिस से गोषियों का अभिमान जाता रहा।

कृष्ण को जब भगवान मान जिया, तो उन से किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता ! वे घट घट के जानी हैं, कोई वात उन से क़िपी नहीं है ! जिन की पूर्णमिक प्रमेश्वर में हो जाती है, वे संसार की किसी वस्तु का ध्यान नहीं रखते, न उसकी कुछ प्रवा करते हैं। सभी जानते हैं कि पूर्ण सन्यासी, जो प्रमहंस श्रवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, सब वखों को फेंक कर नम्न रहते हैं। क्या उनका नम्न रहना लीकिक दृष्टि से बुरा नहीं है? वेशक बुरा है, परन्तु कोई पेसा नहीं कहता। जैनदिगम्बरी साधु नम्न रहते हें। जैनमृतियां नम्न होती हें जिन के
दर्शन सभी गृहस्य करते हें। परमहंस साधु नम्न रहते हें। लीकिक हि, जो गोपियों के चिरित्र में लगाई जाती है, इन साधुर्श्वों के चिरित्र में
नहीं लगाई जाती है। नहीं तो इन सवको बुरा कहना पड़ेगा। क्या परमेश्वर मनुष्यों को अपने सामने नम्न खुलाता है जिससे ये सब नम्न हो
गये हैं? कहापि नहीं। ये तो संसार की माया का चिन्ह है? ईश्वर के सामने वहीं पहुंचता है जो संसार की सब वार्तों को छोड़ देता है
और उन में कुछ भी रुचि नहीं रखता, न सांसारिक वन्धनों की कुछ
परवा करता है। गोपियां अभी इस श्रेणी पर नहीं पहुंची थीं। श्रीकृष्ण
ने इस वात की जांच करती।

### श्री कृष्ण की रासलीला।

कृष्णचन्द्रजी पर दूसरा आत्तेप यह है कि वे सर्वदा तरुणगोपियों के साथ रहा करते थे धौर खेल कीड़ा करते रहते थे। यदि कृष्णचन्द्र शुद्धाचरण के होते, तो उन को स्त्रियों के साथ ऐसा प्रजुराग क्या होता और इन तरुण वालाओं से कीड़ा करने में उनका क्या प्रसिप्राय था?

इस बात को पिह्नु ही कह आये हैं कि जिस घटना की पेतिहा-सिक हिए छोड़ कर समालोचना की जाती है, उसका कभी पूर्ण और सत्य ज्ञान नहीं होता है। जिस समय ओक्रण बज में रहते थे उस समय का हाल मालूम करना अत्यावशक है, और यह हाज उन्हीं पुस्तकों से मालूम हो सकता है जिन में ओक्रण्णचन्द्र के चरित्र का वर्णन किया गया है।

पाठकों को इस तरफ़ ध्यान दिलाना भी आवस्यक है कि इस देश में परदे की रिवाज मुसलमानी समय से ही है और जिन प्रांतों में मुसलमानों का अधिक प्रभाव रहा है वहां परदे की कठिनाइयां भी

अधिक हो गई हैं। प्राचीन भारत में ख्री-पुरुषों में परस्पर व्यवहार उसी रीति से था जैसा कि आजकल योख्य की सम्य जातियों में दिखाई देता है। इससे यह सिद्ध हुआं कि फ़र्पाचन्द्र के समय खी-परुपों के परस्पर मिलने अथवा वार्तालाप करने में कोई रुकावट नहीं थी। दुसरे इस बात पर भी ध्यान देना जुरूरी है कि जिस जाति की गोपियां थीं उस में मानसिक सभ्यता द्याचवा विद्या-प्रचार कम हुत्या या। गोपगो-पियां स्वतंत्रता से रहती थीं। इल, कपट, व्यभिचार ग्रादि टोपों से कलर्जित नहीं थीं। कृप्ण की इस समय है या ७ वर्ष की अवस्था थी। वालक वडा सन्दर और समसदार था। इसकी तरफ सभी का प्रेम था। जैसे कृष्ण से गोप प्रेम रखते थे वैसे गोपियां भी रखती थीं। जय कोई सन्दर बालक होता है तो सभी का चित्त उसकी तरक प्राकृष होता है। यह अस्वाभाविक वात नहीं है। यदि गोपियां कृष्ण को, जो पकं पेला सुन्दर और होनहार लडकाथा, देखकर प्रसन्न होती थीं और उस के साथ खेलती थीं, तो इस में आश्चर्य क्या है। यह स्वाभाविक बात है। आत्रेप करनेवाले इस बात को छोड़ देते हैं कि वज के सब लडके प्रायवा गोपभी दिन भर कृष्ण के साथ रहते थे और उन का साथ कभी नहीं छोड़ते थे। दिनमर श्रीकृष्ण वन में गौ चराते थे। सव गोप उनके साथ होते थे और वन स्थानों में अनेक प्रकार के खेळ गोपोंके साथ हुआ करते थे। स्त्री-पुरुष सभी कृष्ण से स्नेह करते थे। क्या यह बात अब नहीं है कि जब कोई यहा सुन्दर भीर समसदार वालक होता . है, तो क्या स्त्रियां और क्या पुरुप सभी उनके साथ खेलते हैं ? मा याप भाई बहिन सभी, किसी अवस्था के क्यों न हो, छोटे वालक के साथ खेलने में वडी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। राजा महाराजाओं को अपने क्रोटे वालकों के साथ खेलते वहतों ने देखा है।

कृष्ण का गोपियों के साथ खेलना कोई अस्वामाविक वात नहीं है विशेषतः उस समय जब कि दिन्दुजाति में कहीं भी परदे की प्रधा नहीं थी, और कृष्ण की सात वर्ष की श्रवस्था थी। श्रव रासलीला पर विचार करिये। जिस समय का हाज लिख रहे हैं उस समय में वेश्याओं का नाच तो शाही नहीं। यह श्रवश्य और शृणित रीति तो उसी समय से पाई जाती है जबसे मुसजमानों का प्रवेश इस देश में हुआ है। प्राचीन हिन्दू-समाज में की पुरुषों में परस्पर संसर्ग रहता था श्रीर मृत्य-संगीतादि विषयों में भी खियां, पुरुषों के बरावर रहती थीं।

सर्वसाधारण की ज्ञात है कि पाश्चात्य देशों में, जो आज सभ्यता में भ्राप्रताग्रातीय है; स्त्री पुरुषों में प्रस्पर गाने बजाने नाचने का प्रचार है। इसे कोई सभ्य ग्रादमी बुरा नहीं कहता है। सन में बड़ी ख़ुर्रा का उत्सव नाच का है। नाच से यह ध्रमिपाय नहीं कि किसी दुराबारिणी पतितस्त्री अर्थात वेश्या को बुलाकर नाच दिखाया जाय, बल्कि यह कि सब बडेर सन्जन, और सदाचारिणो ।स्रियां, आपस मैं मिलकर मृत्य करें। ध्रागरेजी शिक्तित पुरुषों को तो अंगरेज़ी नाच जिले 'Ball' कहते हैं अच्छी रारह' से माळम है। कोई मनुष्य ग्रंगरेज़ों को ग्रसभ्य ग्रीर दुराचारी नहीं कहता क्योंकि इनमें स्त्री-पुरुष इकट्टे होकर नाचते हैं। साइचर्य है कि इस देशमें, जो इस समय योरुप की सभ्यता के कहीं पीछे हैं, श्री कृष्ण को, जिन्हों ने गोपियों के साथ इस तरह नाच किया था, बडा दोष लगाया जाता है और उनके भाचरणों पर भाचेप किया जाताहै । जब यह ब्याल किया जाय कि अंगरेज़ी सुशिक्षित पुरुष, जो पाश्चात्य देशों के 'Ball System' अर्थात् नाच-प्रथा की प्रशंसा करते हैं और श्रीकृष्ण के नाच-विधान की निन्दा करते हैं, तो आश्चर्य की सीमा और भी बढ़ जाती है। इनके विचार में यह परस्पर-विरुद्धता कैसी!

यथार्थ में वात यह है कि श्रीकृष्ण मगवान एक बड़े समाज-सुधारक थे। ऊपर चीरहरणतीला के असङ्ग में कह आये हैं कि एक प्राचीन कुरीति को उन्होंने किस चतुरता श्रीर बुद्धिमत्ता से दूर किया है। इसी सामाजिक सुघार की दाप्टे से देखा जाय, तो मालूमं होगा कि योरूप में सभ्यता फैलने के सहस्रा वर्ष पहिले ये कृप्णा भगवान् ही थे जिन्होंने Ball अर्थात् नृत्य की प्रधा निकाली—यह प्रधा जो इस समय समस्त सभ्य भूमग्रहल में वहे सम्मान के साथ प्रचलित है । ग्राज कल हिन्द् जाति के भ्रच्छे २ विद्वानीं को कहते और लिखते देखा है कि आधुनिक सभ्यता के सभी बड़े २ ग्राविष्कार जो दृष्टिगोचर होते हैं पहिले इस देशमें भी मालूम थे और उनके प्रमाण हिन्दू शास्त्रों में भी पाय जाते हैं ; जैसे ज्योमयानतार,विना तारका तार। एतहेशीय वड़े ग्राशिमानसे कहेत हें कि ब्योमयान इस देशमें वहुत पुराने हैं। योग विद्यास ट्रकी खबर जल्दी मिल जाती थी। गुटकों के द्वारा दूर २ आदमी आकाश के मार्ग से चले जाते थे। यदि इन सब वातों के कहने में इस देशका प्रभाव और गौरव प्रकट होता है, तो एक ऐसे विषय में, जिलमें यथार्थ ही इस देश का गौरव ज्ञात होता है, क्यों भूछ दिखाई जावे ? यह वात हम छोगीं को वहें अभिमान से कहना चाहिये कि ये हमारे छूपा चन्द्र जी थे जिन्होंने नाच की प्रधा निकाली है और जो प्रथा घाज सभी सभ्य देशों में प्रचलित है । सामाजिक दृष्टि से रासलीला के द्वारा श्रीकृष्ण जी बहुत बहा काम कर गये। स्थी-पुरुपों के परस्पर मनोरज्जन की बहु रीति निकाल गये जिसके प्रचार करने से सब सभ्य देशों में वेश्यानृत्य का गवेश भी नहीं होने पाया । इस देशमें, जहां हमारे परम पूजनीय छण्ण ने यह प्रणा निकाली, उस के ग्राभाव से घर २ वेश्यानृत्य होने लगा और सामाजिक निर्मल आनन्द का लेश भी नहीं रहा । इस देश के निरक्षर मनुष्य तो भगवान् श्री छूणा की राखलीखा पर उपहास करते रहे अथवा उसे खेल सममते रहे. पश्चिम देश के सभ्य खी-पुरुप उस का गृढ ग्राशय समम कर प्रचार में ले आये। परिणाम क्या हुआ ? यहां, तो वेश्यापं नाच करने लगीं थ्रौर सामाजिक चरित्र धरातल को जाने जगा और वहां वेश्याओं का नाम-निशान न रहा, और नर-नारी सभी को आनन्द और मनोरञ्जन का उपाय मिला।

यह वात समझ में नहीं वाती कि श्रीकृष्ण के रास करनेले उनमें क्या दोप आगया धीर क्या धर्म में धक्का जग गया। यह इसी देशकी कहावत है, "साहित्यसङ्गीतकछा विद्वीनः साज्ञात् पशुः पुच्छविपाण हीनः!" अर्थात् जो मनुष्य या खी साहित्य सङ्गीत और ऐसी ऐसी फलाओं को नहीं जानता या जानती है वह विना पूंछका पशुहै। साहित्य सङ्गीत विचार से रासजीछा एक श्रद्धुत चीज़ है। इसकी तुजना धीर किसी चीज़ से नहीं हो सकती। साहित्य, सङ्गीत भीर नृत्य के श्री कृष्ण पुरन्धर आचार्य गिने जाते हैं। इसका गौरव वेही समझ सकते हैं जिनका इन विषयों से परिचय है। सर्व साधारण की समझ से यह विषय परे हैं।

यह भी रस स्थान पर लिख देना ग्रावश्यक है कि जिस समय कृष्ण ने रासतीता की है, उनकी अवस्थाण्या ८ वर्ष कीथी प्रर्थात् विषयभोग के थोग्य अवस्था नहीं थी। दूसरी वात यद है कि रासजीला में कहीं विषय-भोग का उल्लेख नहीं 🕏 । नृत्य धौर तत्सम्बन्धिनी कीड़ाध्रों का वर्णन ही है। तीसरे यह भी ध्यान देने योग्य वात है कि यह रासलीला गोपियों की अति दीन प्रार्थना पर की गई थी। बहुत दिनोंसे प्रार्थना थी। श्रीकृष्ण ने इनके मन शुद्ध करने के लिये कई मास्त तक कात्यायन व्रत इनसे करवाया । रासपंचाध्यायी के पढ़ने से झात होगा कि जो कुछ र्छन्या ने किया है उसमें दुवित वात नहीं है। उपहास थ्रौर धान्नेप करने को तो धनसमझ धादमा पवित्र से पवित्र वस्तुओं में दोष छगा सकते हैं। दुग्ध कैसा सुन्दर और वळदायक पदार्थ है, परन्तु भ्राजकल के पढ़े लिखे उसमें भी दोष लगाते हैं धौर यह कह कर कि इससे मैदा विगड़ जाता है, उसका सेवन छोड़ देते हैं ! इस विषय में भी देखी। कृष्ण भगवान् ने क्या भोजन सम्बन्धी सुधार कर दिखाया है। दृध, दही, माखन, इन्होंका भोजन उन्होंने श्रेष्ठ मानाहै। मद मांसका भोजन, जो पहले से चला आता था, उन्होंने सर्वधा त्याग किया है।

इस रासलीला को अध्यात्महाष्टि से देखो । चीर हरग लीला के प्रसङ्ग में कह आये हैं कि गोपियां अपने को परमभक्त समझती थी, परन्तु जब कृष्ण ने इनकी परीचा छी, तो इन्हें पूरा नहीं पाया। उन्हें भक्त होने का जो अभिमान था उसे तोड़ विया। गोविया ने भी इस बातका मान लिया। अपनी भाक्त बढ़ाने लगी; बढ़ाते २ पूर्ण अवस्था पर पहुच गईं। इस ग्रवस्था की भी श्रीकृष्ण ने परीक्षा की और यह परीत्ता रासलीला में थी। रासलीला में भी जब श्रीकृष्ण ने इनमें अभिमान का लेश वाकी देखा, तो फिर क्रोंका दिया, भीर जब ये अपने कों पूर्ण समक्त गई तब कृष्ण इनसे मिले। गोपियां भक्ति की भादरी नायिका हैं। इनसे बढ़कर भक्ति करनेवाला कोई नहीं हुआ है। नारद्खुत्रों में भी सबसे बड़ा उदाहरण गीवियों की भक्ति का ही दिया है। भक्ति पूर्ण हेाने से परिग्राम यह हुआ कि जीव और परमेश्वर एक हो गये। जीव परमेश्वर में तन्मयता हो गई। जैसे नृत्य में एक चित्त हो जाता, वैसे ही जीव, परमेश्वर में रमण करने लगता है। रासलीला क्या है ? जीवों काईश्वर के लाथ एकमान होकर रमर्ग करना है। यह अवस्था भक्ति से ही होती है। गोपियों को भक्ति से यह **धानंद प्राप्त हुआ ।** 

ध्यव तीसरा श्रथं लीजिये। जब कोई बहुत तेजस्वी महात्मा होता है, तो एक वार कामदेव उसकी अवश्य परीन्ना जेता है, भौर यदि इस परीन्ना में वह पूरा उतर जाता है, तो उसका बड़ा गौरव होता है। इस तरह श्रीकृष्ण भगवान की परीन्ना भी हुई। भगवान जान गये। कामदेव के मन में किसी तरह की शंका न रह जाय, इस जिए सब सामग्री इकट्टी की जिस से काम का पूरा उद्देग हो सके। शरद पृश्चिमा की रात्रि, अनेक यौवना खियां, यमुनातर के रम्यस्थल, मधुर वंसी का सङ्गीत, रासलीला का व्यवहार, यह सब सामग्री कामदेव की सहायक थीं। श्रीकृष्ण भगवान इस सब के रहते कामदेव के वशु में नहीं हुए। गांपियों के साथ नृत्य भी किया, क्रीड़ाएं भी की, परन्तु किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं किया। कामदेव को द्वार माननी पड़ी, और वह लिजित होकर श्रीकृष्ण भगवान की शरण आया। इस सब का अभिप्राय यद्व है कि श्रीकृष्णचन्द्र ने रासलीला के द्वारा कामदेव का मान खंडन किया है। रासलीला श्रीकृष्ण के श्रद्धल चोगी होने के प्रमाण में हैं, न्षि उनके व्यभिचार के प्रमाण में।

#### का लिह्मन।

श्रीकृष्ण ने कालिनाग को जो चृन्दावन के निकट यमुना में रहता था और जल को विषमय करता था, ध्रपने वश्र कर निकाल दिया। इस बात को श्रवांचीन मनुष्य एक क्रपोलकल्पित घटना समस्ते हैं और कहते हैं कि यह वात श्रसम्भव है और पुजारियों ने कृष्ण की महिमा बढ़ाने के लिए पुस्तकों में लिख ही है।

ष्यव दुखि से विचार करिये कि यह वात सम्भव है या नहीं। सभी मनुष्य जानते है कि सपेरे पुंगी राजाकर सपों को वहा में कर केते हैं। बड़े बड़े जहरीके सपे सङ्कीत के प्रभाव में आफर कोटे र मनुष्यों के वशीमृत हो जाते हैं। छण्ण भगवान् बांसुरी वजाने में यड़े प्रवीण थे और नर नारी पशु पत्ती आदि सभी धंशी की धुनि सुनकर मोहित हो जाते थे। नागदमनलीला औरूष्ण की सङ्गीतिनपुण्या के उदाहरण में है। इस से यह प्रमाणित होता है कि शिकृष्ण सङ्गीत विषय में ऐसे छशाल थे कि बड़े से बड़े अज़रहों को अपनी वंशी की ध्विन से वश्य में कर लेते थे। जो सङ्गीत विद्या से परिचय रखते हैं वे जानते हैं कि शिरुष्ण सङ्गीत के एक धुरुष्यर आचार्य हैं और उनके भतानुसार ही सङ्गीत का विधान है। यदि श्रीरुष्ण मणवान् न होते तो भारतवर्ष का सङ्गीत मी पेसा गौरवदाली नही होता। कुछ नायक और गवेयों की प्रशंसा में कहा जाता है कि जब वे मलार गाते थे तो झाकाश

से वर्षा होने सगती थी। दीपक राग गाने से दिन में दीपक जल उठते थे। इसीतरह श्रीकृष्ण के वंशीवजाने की निषुणता के उदाहरण में कालिदमन लीला है। यदि तानसेन के गाने से वर्षा हो जाती थी, श्रीर लोगों का इस में पूर्ण विश्वास है, तो क्या श्रीकृष्ण जिन्हें परमेश्वर मानते हैं ऐसे भी संगीतकुशल नहीं थे कि वंशी बजा कर एक सर्प को वश में कर लैं ? इस लिए इस विषय में शंका करना वृथा है।

### गिरिधारणलीला ।

श्रीकृष्ण भगवान् ने एक समय वृन्द्रावनवासिय्यों को मेघ वृष्टि से वचाने के लिए एक पर्वत को अपनी अंगुली पर उठा लिया था। इस विषय में भी जोगों को वड़ा संदेह है, परन्तु जो विज्ञानशास्त्र से परि-चय रखते हैं उन्हें यह वात कभी असम्भव नहीं मालूम हो सकती। यह दूसरी बात है कि यह मनुष्य यह कर सकता है या नहीं परन्तु यह श्रसम्भव नहीं है। श्रापने देखाहोगा कि नट लोग एक वांस को जुमीन में गाड कर उस पर तरह तरह की कलाएं करते हैं। धापको यह भी ध्राच्छी तरह ज्ञात है कि जव आप किसी लकड़ी को वीच में से उठाते हैं और दोनों तरफ़ का एकसा भार हो जाता है, तो वह जकड़ी आपकी अंगुली पर ढेड़ी रहती है। साधन करने से वांस की श्रंगुली पर खढ़ा करते हैं। यह क्या बात है। विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि जब किसी वस्त की आकर्षणशक्ति का केन्द्रस्थान मालुम हो जाता है, तो वह वस्तु कितनी ही भारी क्यों न हो थोड़े वलं से उड़ सकती है। भूँगरेज़ी में इस भाकर्पणशक्ति केन्द्र को स्पेसिफिक ब्रेवेटी (Specific gravity ) कहते हैं। जब स्पेसिफिक ग्रेवेटी मालूम हो गई तो कैसा भारी भी पदार्थ क्यों न हो आसानी से उठ सकता है। सरकस तमाशों में देखा जाता है कि इस शक्ति की जानने श्रीर साधन करने पर नट कैसे कैसे अद्भुत खेल करते हैं। तनी हुई रस्सी पर

कुर्सी के चार पायें। में से एक पाये को भर कर कुर्सी पर वैठ जाते हैं, खेड़ हो जाते हैं । इस तरह होठ पर वांस को खड़ा कर उसके ऊपर लडकों को कला करने देते हैं। यदि आप चाहो तो स्वयं भी एक वांस या बल्ली को अँगुली पर खड़ा कर सकते हो । यह केवल श्राकर्पण-शक्ति को जानना और उसका साधन करना है। पत्थर का भारी टुकड़ा ग्रॅंगुली पर खड़ा ही सकता है। उस टुकडे की धाकर्पग्रांकि का के-न्द्र मालुम होना चाहिये छौर इसका साधन भी ब्रावश्यक है। इस नियम से मालूम होगा कि कृष्ण का पर्वत उठा लेना केवल आकर्षणशक्ति के ज्ञान झौर साधन द्वारा ही थी। इससे कुंप्ण की वैज्ञानिक निपुणता का भौरव ज्ञात होता है। जो नट एक भारी यांस को अँगुली पर उड़ा कर लेता है वह वड़ा चतुर समका जाता है थौर लोगं उसकी वड़ी प्रशंसा करते हैं। जब श्रीरूप्ण ने गिरि को श्रमुली पर उठा लिया तो उनकी कितनी कलाकुशलता प्रगट हुई। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि श्री-कृष्य वैज्ञानिक शास्त्र के पारदर्शी थे, नट विद्या के धुरन्धरग्राचार्य थे। हिन्दू जाति को इस वात का अभिमान होना चाहिये कि उनकेश्रीकृष्ण पेसे विशान-शास्त्रवेत्ता थे। श्राकर्षग्राक्तिशान का उदाहरग्राश्री गगोश के वाहन से भी प्रकट होता है। गणेश जी कितने भारी छोर स्थूल थे भौर उन का वाहन कैसा झोटा भौर निर्वल जीव है। क्या एक मूपक सामान्यरीति से गराशजी का मार सम्हाल सकता था, कदापि नहीं। परन्तु गणेशजी तो गणितविद्या के खाचार्य थे, इसी से इन का नाम गगोश है और सब देवताओं के पहले पूजे जाते हैं। इन्हें अपने शरीर की आकर्षणशक्ति का केन्द्रस्थान मालूम था। उसीको लच्च कर मृषक पर सवार होते थे। यह वाहन इसीलिए रखा गया था कि दूसरे देवता , उनकी गणितविद्या की निपुणता का चमत्कार सदैव देखते रहैं। हिन्दू देवताओं में पेसे कई उदाहरण मिलेंगे जिन्हें यथार्थहान न होने के कारण हम उपहासदृष्टि से देखते हैं।

इस लेख में श्रीकृष्ण की चार लीलाओं की व्याख्या की गई है, अर्थात् चीरहरण, रासलीला, कालिनागदमन और गिरिधारण लीला।

विचार करने से मालूम होगा कि इन जीलाओं के करने में रूप्ण का स्वार्थ कुछ भी न था। सब जीलाएं परोपकार के लिए ही की गई थीं।

पहली लीला एक कुरीतिवन्द करने को, दूसरी गोपियों को सिक का फल देने को अथवा उनकी अभिलापा पूर्ण करने को, शिक्सी वृन्द्रा-वनवासियों की जान वचाने को और चौथी इन लोगों की रहा नेववृधि से करने को। कोई चरित्र श्रीकृष्ण का पेसा नहीं है जिसमें उनका स्वार्थ पाया जाता हो। जन्मभर दूसरों के हित को ही नुख्य समभ कर वे काम करते रहे हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र का ऐसा श्रद्भुत चरित्र है कि सर्वसाधारण की सम-भ में नहीं श्रासकता है।

संसेपतः यह भी लिखा जाता है कि इनके चरित्र से किस किस बात का ज्ञान होता है।

पूर्वोक्त विपयों से यह प्रमाणित हो चुका है कि श्रीकृप्ण सामाजिक सुपारक, संगीतसाहित्यविद्या के पारंगत श्राचार्य और विकानशास्त्र के धुरन्थरवेत्ता थे। उनमें विविध प्रकार की योग्यताएं थीं, उनमें से ये कतिएय हैं। वें बढ़े बीर श्रीर पराक्रमी थे। कंसकेशी श्रादि राज्ञसों के मारने से यह योग्यता स्पष्ट है। वे बड़े बीतिक्ष थे। यह महाभारत को देखने से विदित होता है जिस प्रकार द्वारकापुरी उन्हों ने बसाई श्रीर श्रपने वंश की उन्नित की उस से बात होता है कि श्रीकृप्ण प्रासन प्रवन्ध में श्रद्धितीय थे। मित्रता जो श्रर्जुन श्रीर पांड्वों के साथ उन्होंने प्रकट की थी श्रीर जिसके कारण उनका सदैव उपकार होता रहा था इस बात की श्रीतक है कि श्रीकृप्ण वड़े सचे श्रीर हितैपी मित्र थे। जब महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हुआं है तो कौरव पांड्व दोनों से गाड़ संस्वन्ध रखने के कारण श्रीकृप्ण ने युद्ध में जड़ने से शपथ लेली थी

श्रीर यद्ध में दोनों से मित्रमाव रक्खा था इस से बात होता है कि श्रीकपा कैसे भित्रभाव रखने वाले थे। श्रीकृपा ने तत्रिय होने परभी कभी मांस भोजन अथवा मदिरा पान नहीं किया; दूध, दही, माखन को ही काम में लाए। इस से मालूम होता है कि भोजन विषय के भी वह एक वहे सुधारक थे। उनके समय से ही इस देश के निवासियों ने मांस भोजन त्याग दिया है। धर्म थ्रौर थ्राचार में जो मर्यादाएं बजी ष्राती थीं उनके ही अनुसार श्रीकृप्ण का श्राचरण रहा है। इस से यह प्रकट होता है कि वह धर्म विषय में किसी पत्त का खंडन मंडन नहीं पसन्द करते थे श्रीर सनातन धर्म का हार्दिक श्रद्धा से पालन करते थे। सत्य का पालन छौर ग्रसत्य का त्याग, उनका मुख्य उद्देश्य था। जीवन पर्यन्त उनका यही नियम रहा। जब यादवों की असत्य मार्ग में जाते देखा तो सत्य स्थापन के जिए उनका नाश होने दिया । पत्तपात प्यौर माया मोह को उन्हों ने छोड़ दिया । निर्वल, प्रनाथ धौर दु:खियों के वे सर्वदा सहायक थे। श्रीकृष्ण का सव जीवन चरित्र इस बात की घोषणा दे रहा है। जोकुछ श्रीकृष्ण ने किया परोपकार के लिप किया. कभी कुळ स्वार्थ के वश होकर नहीं किया। कोई उदाहरण कृष्ण के चरित्र में ऐसा नहीं है जिस से उनके कामों में स्वार्थ प्रकट होता हो। श्रीकृष्ण के निष्कलंकित श्रीर पवित्र जीवन का उस शपथ से पता लगता है जो उन्होंने ग्रामिमन्यु की स्त्री उत्त्रा के मृत पुत्र को पुनर्जीवित करने के समय जी थी। इस अवसर पर श्रीकृपा ने ध्रपने योग वा पेश्वरीय प्रमाव का कुछ प्रवलम्बन नहीं लिया, विक शपय में अपनी पवित्र और शुद्ध जीवनी, का ही हवाला दिया है। इस शपथ के शब्दों से श्रीकृष्ण के यथार्थ जीवन का पता लगता है। ऊपर जिन २ विपयों पर विचार कर आये हैं उनसे झात होता है कि श्रीकृष्ण एक वंद्युत उच्चश्रेणी के आदर्श पुरुष थे, परन्तु जब गीता के उपदेशों पर ध्यान दिया जाता है तो स्पष्ट बात होता है कि श्रीकृप्ण परमेश्वर के श्रवतार थे। संसार की सब पुस्तकों में गीता श्रद्धितीय

है। जो इस उपदेश का करने वाला है वह मनुष्य नहीं हो सकता है। संसार के सर्व धर्म प्रचार करने वाले ईश्वर के निकट पहुचने का मार्ग ही वताते रहे हैं, किसी ने परमेश्वर को दिखा नहीं दिया है। यह श्रीकृष्ण का प्रभाव ही था कि जब अर्जुन ने परमेश्वर का रूप देखना चाहा तो उसकी वह इच्छा भी पूरी करदी। क्या कोई संसार के बड़े से बड़े महातमा, नवी, पेराम्वरों में पेसा कोई हुआ है जिसने परमेश्वर को साम्रात करके दिखा दिया हो। सिवा श्रीकृष्ण के और किसी ने पेसा नहीं किया है। गीता में जो जो धर्मापदेश हैं उनकी तुलना तो संसार के किसी उपदेश और विद्या से करना वृथा है क्योंकि वे आदितीय हैं। यदि श्रीकृष्ण का पेसा कलंकित चरित्र होता तो क्या वे गीता सुनाते, कदापि नहीं। हे भारतवासियों वृथा वितन्दावाद छोड़ कर श्रीकृष्ण के चरित्र और उपदेश से जाम उठाओं! इसके विना तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकता है।



## भगवद्गीता कब बनी।

भगवद्गीता कव वनी, इस विषय में बहुत मतभेव हैं।प्राचीन प्रत्य कत्तांग्रों ने वहुधा प्रन्थ रचने का समय नहीं लिखा। किसी किसी ने तो अपना नाम तक नहीं वताया। ध्रतप्व गीता-रचना का ठीक समय निश्चय करना ध्रति कठिन है। तथापि कुछ पेसे श्रमाण ध्रौर घटनायं हैं जिनके ध्राधार पर कुछ ध्रमुमान किये जा सकते हैं। विद्वानों ने जो सम्मतियां, इस विषय में, दी हैं उनका उल्लेख, यहां पर, थोड़े में कर देना ध्रावश्यक मालूम होता है।

भोफेसर डी॰ धार॰ धमलनेरकर ने गीता के निम्नलिखित श्लोक से निश्चय किया है कि वादरायण-इत चेदान्त सूत्रों के पश्चात् गीता रखी गई है:—

> ऋषिभिवंहुधा गीतं झन्दोभिर्विविधेः पृथक् । ब्रह्मसूत्र-पदेश्चेव हेतुमद्भिर्विनिश्चतैः॥'

इस रजोक में ब्रह्मसूत्र-पद से मतलव वेदान्त-सूत्रों से हैं, श्रौर वेदान्त-सूत्रों के दूसरे प्रध्याय में वौद्ध श्रौर जैन धर्म का विचार है। ध्रतपव वेदान्त-सूत्र वौद्ध मत के पीक्षे रचे गये धाँर गीता उनके भी पीक्षे वनी। यदि ब्रह्मसूत्र गीता के पहले न रचे गये होते तो ब्रह्मसूत्रों का नाम गीता के इस रजोक में न दिया जाता।

मोफेसर मोत्तमूलर की भी यही सम्मति है। यदि ये घ्रानुमान ठीक माने जांय तो गीता बनने का समय ईसाके कई शताब्दी पीछे उहरताहै।

पतदेशीय विद्वान, जैसे माननीय तैलंग श्रादि, इस सम्मति के विरुद्ध हैं। वे श्रीमच्छ्रकृतांचार्य्य के गीता-भाष्य के श्रनुसार इस इलोक का अर्थ लगाते हैं। ब्रह्मस्थ्रं-पंद से वे वादरायण-कृत वेदान्त-स्त्रों का श्राशय नहीं स्वीकार करते। वे कहते हैं कि ब्रह्मस्त्र से मत-लव ब्रह्मप्रियादक वाक्यों से है। वेदान्त-स्त्रों में इन स्त्रों का नाम ब्रह्मस्त्र कहीं नहीं। न शंकराचार्यजी ने ही इनको ब्रह्मस्त्र के नाम से

उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अब तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि वर्तमान वेवान्त-सूत्र कोई और पुराने सूत्रों की आवृत्ति है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता में बौद्ध मत के सम्बन्ध में कुछ रलोंक हैं। अतप्य गीता गौतम बुद्ध के पीछे रची गई है। ये रलोंक गीता के सोलह वें अध्याय में ७ से १८ तक हैं। इनमें आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों का वर्णन है। इस विषय में प्रोफ़ेसर मोत्तमूलर ने कोई सम्मति नहीं प्रकाशित की। परन्तु प्रोफ़ेसर अमलनेरकर और प्रोफ़ेसर विल्सन ने लिखा है कि असुरों के वर्णन का सम्बन्ध वौद्ध-मतावल-न्वियों से हैं।

श्रीयुत तैलङ्ग इस सम्मति के भी सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका कथ-न है कि यह वर्णन चार्वाकों का है, वौद्धों का नहीं। इसमें काई सन्देह नहीं कि चार्वाक वौद्धों से वहुत पहले के हैं। हमारे प्रन्थों में इनका व-हुधा वर्णन है। चार्वाकों के गुरु गृहस्पतिजीने एक सूत्र-वद्ध पुस्तक लिखी थी, जो अब नहीं मिलती। परन्तु और प्रन्थों से इस पुस्तक का होना पाया जाता है। माध्याबार्व्य-कृत सर्व-दर्शन संप्रह में भी चार्वाकों का उल्लेख है।

भगवद्गीता उपनिषदों के सिद्धान्तों से भरी हुई है। अतएव यह स्पष्ट है कि उसकी रचना का समय उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों की रच-ना के समय के बीच का है। पर उसमें जो सिद्धान्त हैं उनसे स्चित होता है कि वह बौद्ध मत के आविर्माव के पहले की है और यह समय ईसा के पूर्व कुठी शताब्दी है।

गीता के दूसरे अध्याय के पैतालीसवें श्लोक में निर्द्धन्द शब्द है। इससे विदित होता है कि गीता पाणिनि से पहले की है, क्योंकि इन्द्र समास का प्रचार पाणिनि सूत्रों से पहले का है। पाणिनि ही इस समास के उद्भावक नहीं। वह उनके भी पहले से चला आता है। उन्होंने उसे स्वीकार मात्रकर लिया है।

पश्चिमी विद्वानों ने हमारे प्राचीन साहित्य की रचना के काल को कई भागों में बांटा है उनके अनुसार पहला काल मन्त्र-रचना का है। उसी समय वेद-मन्त्रों की सृष्टि हुई। इस काल के उन्होंने दो विभाग किये हैं। पहलावह समय जब अग्नेवेद बना, दूसरावह जबसाम, यन्तर, और अथर्व-वेद की रचना हुई। प्रोफ़ेसर मेकडोनल इस समय को ईसा के पूर्व २००० से १००० वर्ष तक बताते हैं। दत्त महाशय की भी यही सम्मति है।

दूसरा काल उपनिषदों झौर ब्राह्मण-प्रन्थों की रचना का है, जो ई-सा के पूर्व १००० से ५०० वर्ष तक वंताया जाता है।

तीसरा काल सूत्र-प्रन्थ-रचना का है, जो ईसा के पूर्व ४०० वर्ष से २०० वर्ष तक है।

चौथा काल धर्म-शास्त्रों की रचना का है , जो ईसा के २०० वर्ष पहले से ४०० वर्ष पीक्रेका है।

धव यह निश्चय करना है कि इन समय-विभागों में से किस समय विभाग में महाभारत की रचना हुई, क्योंकि गीता उसीका ध्रश है। पर, इसका निर्णय करना सहज नहीं; क्योंकि महाभारत की रचना एक ही समय में नहीं हुई। उसके रचने वालों की संख्या भीएक से ध्रधिक है। खैर, महाभारत किसी समय में क्यों न बना हो, वेदों से सिद्ध है कि कुट-पाठ्चाज-युद्ध ईसा के १२ या १३ शताब्दी पहले हुआ था।

महामारत के ध्रादि पर्व में लिखा है कि जब शौनकादि ऋषि नैमि-षाराय में यह कर रहे थे उस समय उग्रश्रवा ऋषि वहां ध्राकर उप-स्थित हुए । शौनकादिक की प्रार्थना पर उन्होंने महाभारत की कथा वर्णन की । उग्रश्रवा ने महामारत की कथा वैशम्पायन से सुनी थी और वैशम्पायन ने व्यास से । वैशम्पायन का कथन है कि व्यास ने ध्रपने चार शिष्यों और पुत्र शुक को यह कथा सुनाई थी। उनमें से प्रत्येक ने महाभारत को प्रकाशित किया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ध्रसती महाभारत ब्यासजी ने कथन किया था वह यह नहीं है। वह इन शिष्यों में से किसीएक का कथन किया हुआ है। परन्तु है यह व्यासजी के असली महाभारत के आधार पर।

पश्चिमी विद्धानों ने इस ग्रन्थ की वड़ी खोज की है श्रीर इसे वड़े ध्यान से पढ़ा है। वे कहते हैं कि इस ग्रन्थ की चार श्रावृत्तियां हुई हैं। यथा-

- (१) आदि-पर्व में लिखा है कि महाभारत में प्रप्रूप ऐसे श्लोक हैं जिनका अर्थ ज्यांस और अकट्विजी को छोड़ कर और कोई नहीं जा-नता। संजय शायद जानते हों तो जानते हों। इससे योरप के विद्धानों ने यह तात्पर्य निकाला है कि पहले इस अन्य में केवल प्रप्रूप के शे, जो ईसा के ४०० वर्ष पहले रचे गये थे। गृह्य-सूत्रों से भी इतनी ही श्लोक-संख्या का पता लगता है।
- (२) ध्रादि-पर्व में यह भी लिखा है कि जो भारतसंहिता व्यासजी ने रची थी उसमें २४००० रलोक थे और गीता उनमें शामिल थी। इस दूसरी ध्रावृत्ति में शिव, विष्णु, रूप्ण ध्रादि का स्थान ब्रह्मा के समकत्त्र माना गया है। प्राचीन समय में ब्रह्माजी ही सबसे बड़े देवता समभे जाते थे। इसलिये इसके रचे जाने का समय ईसा के तीन सौ वर्ष पहले का है। इस अनुमान का यह भी कारण है कि यूनान देश के विद्यानों ने, विशेष कर भेगास्थनीज ने, इन देवताओं के पूजे जाने का हाल लिखा है।
- (३) महाभारत के दूसरे पर्व में श्लोकों की संख्या ५४,५३७ वर्ताई गई है। इस कारण यह तीसरी थ्यावृति हुई।
- ( ४ ) इस समय हरिवंश-पुराण सहित महाभारत में १,०७,३६० श्लोक हैं। श्रतएव यह चौथी श्रावृत्ति हुई।

् तीसरी ग्रौर चौशी ग्रावृत्तियों का समय ईसा से २०० वर्ष पहले से ४०० वर्ष पीक्ने तक माना गया है । ईसा के ४४०-४०० वर्ष पीक्ने के जो दानपत्र मिले हैं उनसे पाया जाता है कि महाभारत की चौथी, ग्रार्थात् श्रान्तिम ग्रावृत्ति, ईसा के ४०० वर्ष पीछे वनी थी।

एल के विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर ई० ए० होपिकन साहव, जिन्हों ने महाभारत का सम्पादन किया है, इन आवृत्तियों का निम्न-लिखित समय वताते हैं—

पहली श्रावृत्ति ईसा के ४०० वर्ष पूर्व वनी। इस श्रावृत्ति में केवल मन्त्र थे।

दूसरी घावृत्ति में पागड़वों के वीर-चरित्रों का वर्णन था । पर घौर २ कथायें भी सिम्मिलित थीं । उसमें कृप्ण देवतारूप में माने गये थे। यह घ्रावृति ईसा के ४००-२०० वर्ष पूर्व बनी थी।

तीसरी भ्रावृत्ति ईसा के पूर्व २०० वर्ष से उनके वाद १०० या २०० वर्ष पीके तक वनी । इसमें छप्ण पूर्णरीति से ईश्वर माने गये थ्रौर ध्रमेक धर्म विषयों का वर्णन किया गया । इसमें वहुतसी पौराणिक कथायें भी सम्मिलित की गई।

चौथी त्रावृत्ति ईसा के पूर्व २०० वर्ष से उनके वाद ४००वप तक वनी । इस में वर्तमान सभी पर्व शामिल हुए और पहले पर्व की भूमिका भी लिख़ी गई। होपिकन साहव की सम्मति में समग्र महाभारत ईसा के २०० वर्ष पीछे वन चुका था।

इन ब्रावृत्तियों में से सबसे पीड़े की ब्रावृत्ति में गीता का सिम-जित होना ब्रानुमान किया जाता है। इसकी रचना धर्म-शास्त्रों से पहले की नहीं। और, धर्म-शास्त्र रचना का समय ईसा के २०० वर्ष पहले से ब्रारम्म हुवा है।

गीता का समय निश्चय करने के लिए दो प्रकार के प्रमाण हैं-अमानात्मक और भावात्मक। अभावात्मक प्रमाण यह है कि पूर्वोक्त चार प्रकार के प्रन्य-रचना-काल में गीता का पता नहीं खंगता, अर्थात् मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिपद् और सूत्र-प्रन्थों के रचनाकालमें गीता नहीं वनी। भावात्मक प्रमाण यह है कि चारों काल विभागों के प्रन्थों के आश्य गीता में मिलते हैं। गीता में उन सभी अन्थों की मलक दिखाई देती है। अतप्रव पूर्व निर्दिष्ट अनुमानों का सारांश यह है कि धर्मशास्त्रों की रचना के समय के आरम्भ काल से पूर्व की गीता नहीं, अर्थात् वह सन् ईसवी से कुछ पहले और कुछ पीछे की है। ईपिक इन्डिया नामक अन्थ के लेखक अधित सी० वी० वैद्य प्रम० ए०, के मतानुसार वीर चरितात्मक अन्थों की रचना ईसा से ३०००—३०० वर्ष पहले की है। क्योंकि महामारत का युद्ध ईसा से ३९०१ वर्ष पहले हुआथा। असली महाभारत युद्ध के वहुत काल पीछे न बना होगा; पर अन्तिम आवृत्ति ईसा के २४० वर्ष पहले के लगभग स्तं जी के द्वारा तैयार हुई होगी। अर्थात् वह अर्शोक के पूर्व और मेगास्थनीज़ के पीछे वनी होगी।

भगवह ति के रचना-काल के विषय में वैद्य महाशय की यह सम्मति है कि महाभारत की अन्तिम आवृत्ति के समय की गीता नहीं। किन्तु वह सब से पहली आवृत्ति की है। प्रमाण में वे यह कहते हैं कि महाभारत के बहुत स्थलों में गीता का उल्लेख आवरपूर्वक किया गया है। गीता के रलोक भी महाभारत में स्थान स्थान पर मिलते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान गीता एक स्वतन्त्र प्रन्थहै। वह एकही समय में रचागया है। गीताके रखने वाले व्यासजी हों अथवा वैशम्पायन जी हों, पर थे वे वड़े विद्वान्। गीता बहुत पुरानी है। बुद्ध के जन्म से शताव्यियों पहले वह वन खुकी थी। अठारहों अध्वायों का विषय-प्रवाह एकसा है। कहीं विच्छेद-भाव नहीं। उसकी रचना सरल और सरस है। योड़े में बहुत कुक कह दिया गया है। गीता की रचना का समय उस की भाषा से भी अनुमित हो सकता है। गीता बोल-चील की सरल संस्कृत में है। गीता में वौद्ध मत की कोई वात नहीं है।

परिएडत सीतानाथ तस्त्र-भूषण की सम्मति है कि गीता ईसा के जन्म के कुछ पहले या पीछे बनी है।

जो प्रमाण ऊपर दिये गये हैं उन पर जो ग्राह्मेंप किये जा सकते हैं उनकी भी धानगी देख लीजिए। श्रभावात्मक श्रमाणों छारा यह कहा जाता है कि गीता के सिद्धान्त मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् ग्रार सूत्र-समय के रचे हुए ग्रन्थों में नहीं हैं। सूत्र-प्रन्थों का समय ईसा के पूर्व ४०० से १०० वर्ष तक बताया जता है ग्रीर कहा जाता है कि गीता उस समय के पीछे बनी होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि प्रया गीता में सूत्र-प्रन्थों की वाते हैं? गीता में तो परकी कार्र वात नहीं। ग्रातप्य इस स्वया यह सिद्ध नहीं होता कि गीता इस समय के पहले बनी थी? इस में सन्देह नहीं कि गीता में मन्त्र, ब्राह्मण ग्रीर उपनिषद्-प्रन्थों के सिद्धान्त पाये जाते हैं। परन्तु सूत्र-प्रन्थों की कोर्ड बात नहीं।

गीता में झहों शाजों के खिद्धान्त विद्यमान हैं। परन्तु ये खिद्धान्त वेदों श्रोर उपिनपदों के हैं। श्रतप्य सब प्राचीन है—शह नहीं कि वे वर्तमान छहों शास्त्रों से लिये गये हों। गीता में शास्त्रों के नाम नहीं। श्रतप्य यह सिद्ध नहीं कि गीता ने इन प्रन्थों से श्रपने सिद्धान्त लिये हैं। उपनिषदों के बहुत से श्लोक गीता में जैसे के तेसे पाये जाते हैं।

इन्हीं कारणों से गीता का वनना ईसा के ६०० वर्ष पहले सिख हाता है। क्योंकि ईसा के ५०० वर्ष पहले से सुत्रग्रन्थों का वनना प्रारम्भ हुआ था। परन्तु गीता उस के पहले ही वन चुकी थी। यह अनुमान खेंचातानी का फल नहीं। भारतवर्ष के बड़े बड़े विद्वानों की सम्मति है कि गीता की रखना ईसा के ६०० वर्ष पहले हुई होगी। इस अनुमान की काटने वाले जब तक कोई और प्रवल प्रमाण न मिलें तब तक इसी को ठीक मानना उचित होगा।

पूर्वोक्त अनुमानों के सिवा कुछ प्रमाण हालमें औरभी मिले हैं जिन् नसे गीताके बनने का समय औरभी पहलें का मालूम होताहै। जावा द्वीपमें एक महामास्त की पुस्तक मिलीहै। उसके भीषा पर्व में एक गीता प्रकरण हैं जिसमें गीता के सौ सवासी श्लोक ज्यों के त्यों मिलते हैं। इसका समय शक्षचार पांचलों के पहले कमसे कम २०० वर्ष है और इसमें गीता विद्यान है।

परलोक वासी त्रियम्बक गुरनाथ काले ने एक लेख 'वेदिक मेग ज़िन' में दिया था। उसमें यह सिद्ध कियाथा कि आप्रवलायन गृहस्त्रों में महाभारतका पृथक २ उल्लेख है, और वौधायन धर्मस्त्रोंमें एक स्थानपर महाभारतमें वार्णित ययित उपाय्यान का एक खोक मिलता है। इसके सिवा वौधायन गृहस्त्रोंमें विष्णु सहस्र नाम भी पाया जाता है। वौधायन सन् ईसवी के ४०० वर्ष पहले हुआथा। यह निश्चय हो जुका है। जो गीताका खोक बौधायन गृहस्त्रोंमें पाया जाता है वह यह है:- (पत्रं पुष्प फलम्ं तोय यो मे भत्तवा प्रयच्छिति ६ अ २६)। इन प्रामाणों से यह सिद्ध होता है कि वर्तमान गीता शक के लगमग ५०० वर्ष पहले मिलती थी। बौधायन और आक्ष्यतायन स्त्रकार भी उसे जानते थे-महाशय तिलक जिनका गीतारहस्य हाल में प्रकाशित हुआ है जिखते हैं:-

इसमें कुछ भी शंका नहीं रह जाती कियतमान भगवद्गीता शालि वाहन शकके जगमग ४०० वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी। डाफ्टर भाँडारकर, परलोकवासी तेलिङ्ग, रायबहादुर चिन्तामणिराय वैद्य और परलोकवासी वीत्तित के मतभी इसीसे बहुत कुछ मिजते जुजते हैं, और इसी मत को यहाँ भी श्राह्म मानना चाहिए। यह बात निर्विचाद है कि वर्तमान गीता का काल शालिवाहन शाकेके ४०० वर्ष पहले की अपेना और कम नहीं माना जा सकता।

हमारे सनातनी पिग्रिडतें। के विचार से गीता, पूर्वोक्त समय से झौर भी पहले की है । वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने झपने मुख से गीता का उपदेश श्रर्जुन को कुरुत्तेत्र में किया था। जितना सम य महाभारत के युद्ध को हुआ उतनाही गीता को बने हुआ।

# भगवद्गीता के सिवा खोर २ गीताएं।

गीता एक ही नहीं है, विकि कोई पुराण और प्राचीन धर्मसम्बन्धी पुस्तक नहीं जिल में एक या एक से अधिक गीताएं नहीं हों। भनेक गीताएं देखने से जात होता है कि प्राचीन समय में प्रानसम्बन्धी विषयों को गीता के रूप में उपदेश करने की प्रधा पड़ गई थी। ये सब गीताएं ज्ञानिवय के अमूल्य रल हैं। इनमें से यहुतसी गीताएं ती भगवद्गीता के आधार परही लिखी गई हैं, विकि उसके बहुत से खेतक उनमें अक्षरणः मिलते हैं। उदाहरणतः-शिवगीता, ईश्वरगीता, देवीगीता, गणेशगीता आदि। कुछ गीताओं में केवल आन और सम्यास ही कहा है; जैसे अवधूतगीता, अध्वक्रगीता, किपलगीता आदि। अन्य कुछ गीताओं में भिक्तमार्ग ही प्रधान है; जैसे तीनों यम गीताओं में। ये सब गीताएं भगवद्गीता के पीछे की ही बनी मालम होती हैं और उसी का अनुकरण करती दिखाई देती हैं।

# वृद्ध गौताओं की और उन ग्रन्था के नाम जिन में वे मिलती हैं:—

		_
	गीता	प्रन्थ जिसके घह प्रान्तर गत है
१	ब्रह्मगीता १	योगवासिष्ट
₹	ब्रह्मगीता २	<b>र्कत्रपुरागा</b>
3	रामगीतः	अध्यात्मरामायग
ક	ब्यासगीता	• कूर्मपुरागा
¥.	स्रुतगीता	स्केदपुरागा
Ę	यमगीता १	विष्णु पुरागा
ঙ	यमगीता २	<b>भ्राग्निपुराण</b>
=	यमगीता ३	<b>च</b> िंसहपुराण
8	शिवगीता	पद्म पुराण
१०	देवीगीता	देवीभागवत

११ गयेशगीता	गग्रेशपुराख						
१२ ईश्वरगीता	कूर्मपुराण `						
१३ इंसगीता	भागवतपुराण						
१४ भिक्षुगीता	भागवतपुराण						
१५ ब्राह्मर्गंगीता	महाभारत						
१६ ष्ट्रानुगीता	97						
१७ पाराशरगीत	T 39						
१८ बोध्यगीता	23						
१६ इरीतगीता	79						
२० बृत्रगीता	93						
२१ मेकिगीता	93						
२२ शंयाकगीता	ं भद्दाभारत						
२३ पिंगळगीता	33						
२४ विचल्युगीता	79						
२५ भवधृतगीता	2						
२६ सप्रावकगीता	<b>}</b> स्वतंत्र रची हुई हैं						
२७ कविलगीता	कविलोपाख्यान						
२८ सूर्यंगीता	, ]						
२९ उचरगीता	ं ये शी इसी तरह दूसरे प्रन्थों						
३० पांडवगीता	से उद्धृत हैं।						
३१ व्याधगीता	) '						
३२ प्रार्जुनगीता							
हमने इन गीताओं	में से अवधवगीता और ईश्वरगीता का						

हमने इन गीताओं में से, भ्रवधूतगीता और ईश्वरगीता का भंगरेज़ी भ्रवुताद किया है जो भ्रातम छन रहा है। इन में से एक दो गीताओं के सिवा भौर किसी का दिन्दी श्रवुताद नहीं हुआ है। यदि कोई महाशय इन सब गीताओं का हिन्दी श्रवुताद कर प्रकाशित करें, तो बड़ा उपकार होगा। ये सभी गीताएं पढ़ने योग्य हैं।

## श्रीकृष्णका पवित्रं संदेश।

भगवद्गीता श्रीकृष्ण का पवित्र संदेशहै। गीता महाभारत के भीष्म पर्वका एक अशहै। इसमें १८ प्राच्याय द्यार ७०२ ऋगक हैं। गीताके झडारहों अध्यायोंकी विषयोपकार्याका इस प्रकारहै:—

ग्रध्याय १—धर्ज्यन-विषादयोग

२—सांख्ययोग ।

,, ३---कर्मयोग।

u ४—ज्ञानविभागयोग।

,, ५—संग्यासयोग ।

, ६—आध्यात्मधो**ग** ।

" ७—ज्ञानयोग ।

" ५-- भ्रत्तरब्रह्मयोग ।

,, ६-—राजविद्याराजगुह्ययोग ।

" १०-विभृतियोग।

,, ११--विश्वरूपदर्शनयोग् ।

n १२--भक्तियोग।

,, १३—देननेत्रज्ञाविभागयोग् ।

» १४—गुणत्रयविमागयेश ।

" १४—पुरुषोत्तमयोग।

n १६—दैवासुरसम्पद्धिमागयोग ।

, १७—धद्धात्रयविमाग्योग ।

" १८—सन्यासयोग | ". "

गीता सब उपनिषदींका सारहै क्योंकि-सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपातनन्दनः । पार्थोवत्सः सुधीभोका दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ द्धर्थ-सव उपनिषद् गौ हैं। इस गौके दुद्देनवाले श्रीकृष्ण भगवा-न हैं। अर्जुन गौ का वच्चा है। गीतामृतक्ष्पी दूधहै। झानवान् मनुष्य इस दूधका पीनेवाला है।

गीतोंम सब धर्मपुस्तकींक विचार पायेजातेहें । तीनों वेदोंकी सं-हिता और उनके धरमोंपदेश, गीतामें विद्यमान हैं। १७ वें प्रध्यायके २३ वें श्लोक में वेदों के ब्राह्मणोंकी कालकहें । गीतामें उपनिषदोंके सिद्धान्त सर्वधा मिळतेहें। धर्ममें, नीति, साध्यात्मिक झान, साधनादिका विवरण जो गीता में है, उपनिषदोंके अधारपरही है। कट और श्रेताश्वतरोपनिषत्के श्लोक कई स्थानापर, गीतामें कैसेके तैसेकी पायेजाते हैं। उदाहरणतः गीता के ये स्थल देखिये:—

> अध्याय २ न्होंक ११,१२ ,, ३ ,, ४२ ,, ५३ ,, १३,१४ ,, १४ ,, १

# दुन्ने श्रितिता गीताने निम्न लिखित श्लोन उपनिष्टी में से ही लिये गए हैं:—

गीता				<b>उपनिषत्</b>
अध्या	य २	श्लोक	२९	कट २-७
53	ર	13	२०	,, २ <b>-</b> १६
65	5	57	११	,,
53	, 5	19	3	श्वेताश्वतर <sub>्</sub> ३–६–२०
23	Ę	27	११	,, २–१०
13	્ર દે	12	१३	" <del>2</del> -5
99	Ę	57	38	कैवल्य १-१०
37	<b>የ</b> ሂ	33	<b>የ</b> ሂ	,, 2-3
51	ર	22	१६	क्वान्दोग्योपानिषत् के गद्य
55	5	33	દ	्रे व <del>ाक्</del> यों का अनुवाद
35	१३	33	१७	बृहदाररग्योपनिपत्के गद्य
22	२	77	१४	्रे वाक्यों का अनुवाद

श्रीष्ट्रणाचन्द्रजा का श्रार्जुन के रथको चलाना, कठापनिपत् के प्रथम अध्याय की तीसरी बल्ली के भावाधार पर हैं। परमातमा की जगह श्रीकृत्ण श्रीर श्रातमा की जगह श्रार्जुन धरदिये गये हैं।

गीता के दूसरे श्रध्याय में श्रात्मा, ग्राटवें में श्रवर ब्रह्म, तेरहवें में क्षेत्र-क्षेत्रक्ष, उपनिपदों ही के श्राधार पर हैं।

श्रध्याय १४ के १४ वें श्लोक में उपनिषदीं को वेदान्त के नामसे कहा है। श्रध्याय १३ के चौथे श्लोक में ब्रह्मसूत्रों का वर्शन है।

सांख्य और वेदान्त ग्रास्त्री के भाव, स्थळ २ पर द्रष्टिगीचर हीतेहैं । १० व प्रध्याय के २६ व भीर ३७ व इलोकों भ "कविल " भीर "ध्यास" के नाम भी दिये हैं। अध्याय १८ के १३ वें इलोक में सांख्यादिशास्त्रों का हथाला है। अध्याय १६ के २४ वें प्रतोक में धर्म शास्त्री की भावक है। जिस समय की गीता है, उस समय के सभी धर्मशास्त्र धौर वैज्ञानिकशास्त्री के सिद्धान्त उसी है। बीताको ठीक तरह पर समस्ते के लिए इन सब गारुं। का जानना आवश्यक है। उपनिपदीं का वेदान्त और बौद्धवर्मके उपदेश, इन दोनों के मध्य में गीताका स्थान है । वेदविहितकीम भ्रीर उपासनामार्ग भ्रीर उपनिपदीं के धर्मीपदेश, इन सब को गीता मिलादेती है। कठिन तपस्याके मार्ग स रोकती हुई, गीता, मनुष्य को अपने कर्त्तब्यमें तत्पर होनेका उपदेश देती है। खंसारत्याग से श्रथवा इन्द्रियों के सव भोगत्याग से मोक्ष नहीं मिलती है; और न इन्द्रियों के विशेष भागसेही मोत्त की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण का उपदेश इन दोनों पत्तों के मध्य में है । श्रीकृष्ण वेदों के प्रवृत्तिमार्गे को उपनिपदों के निवृत्तिमार्ग से मिलाते हैं। मनुष्य को उचित है कि न तो इन्द्रियों को ऐसी स्वतन्त्रता ऐदे कि वह स्वयं विषय भोगमें ही लिप्त होजाए और न इन्द्रियों को सर्वधाही वशमें करने की चेष्ठा करे; क्योंकि इन्द्रियों का सर्वथा वशमें होना असम्मवहै । श्रतपव मज्ञष्यको चाहिये कि सदा इन दोनों मार्गी का मध्यगामी हो। श्रीकृष्ण का यह उद्देश नहीं था कि पुरुत्रकाल के ऋषि-सुनियों के

श्रमीपदेशों का खण्डन किया जाय । श्रीकृष्ण तो प्रायः सभी धरमीयदेशों की मानते हें और सब धर्ममार्गी को श्रच्छा बताते हैं. किसी का खण्डन नहीं करते । वेदविहितयक्षादिकर्म, वेदान्तीक सन्यासमार्ग, सांख्यशास्त्रनिर्देशविचेकप्राप्ति. योगशास्त्रातसार मन इन्द्रियों को वशकरना – इन सब मार्गों को मानते हुए, श्रीकृष्ण ने द्वातमा की नित्यता और गौरवता का प्रतिपादन किया है। पूर्वकाल से जितने मतमतान्तर बले छातेथ. श्रीकृष्ण के उपदेशसे प्रकारतीवित होगये। इन सब मतीकी शीकृष्ण ने अपने साविककर्म मार्ग से मिका दिया है। श्रीकृष्ण का केवल उपदेश यही नहीं था कि मनुष्य को कर्म पर्व सात्विक कर्म करना चाहिए, यह कि यह कि जो सात्विककर्म किया जाय वष्ट अहंकार ग्रीर फलकी कामना को त्यागकर किया जाय। भक्ति और उपासना को निस्पृह होकर करनी चाहिये। इतनाही नहीं, बरिक जो कुछ कर्भ किया जाय उसमें स्वार्थ और कामना का छेश भी न हो और सब कर्म ईश्वर के समर्पण किये जायँ। जिसं जिल प्रकार ईश्वर माना गया है, उन सब रूपें को श्रीकृष्ण मानते हैं; परन्तु इन का ईश्वर प्रतिपादन इस तरह है—ईश्वर संसार का स्राप्टा है, वही सबका पालन करता है, वही प्रलय में संसार का नाश करता है, वह सव संसार का अधिष्ठाता है, वह गुणरहित भी नहीं है। वह पेला ईश्वर नहीं है जिलने संलार को उत्पन्न करके नियमानुसार चलने को छोड़िदया हो। वह तो लंखार का शासन निरन्तर करता रहता है। साधुट्यों को सुख देता है, हुप्रों को दण्ड देता है। वेदान्त, सांख्य घ्यौर योगशास्त्रों के सिद्धान्तों को मानते हुए, श्रीकृष्ण ने ईश्वर विषय को इन सिन्हान्तों से मिला दिया है। गीतामें ७ से १२ ग्राप्यायों में यही विषय है। वेदान्त, में ईश्वर को जंगत् दा उपादान और निमित्त कारण माना है। शीकृष्णने भी यही माना है, परन्तु यह और बताया है कि वह तो जगत् में है, पर जगत् उसमें नहीं है । सांख्य मत में जगत् को इत्पन्न करने वाली "प्रकृति" मानी गई है । श्रीकृष्णेन भी जगत् की

उत्पत्ति प्रकृति से मानी है; परन्तु साथही साथ यहभी वतादिया है कि ईश्वर, प्रकृति का अधिष्ठाता है। ईश्वर जगत् का कर्जाभी है धोर उसमें मनुष्यक्रप से ध्रवतार भी छेता है। जगत् अपनी शक्तियों से चजता है; परन्तु ईश्वर सब शक्तियों का चजाने वाला है। श्रीकृष्ण ने सभी मागों को अब्जुा माना है और कहा है कि ईश्वर की प्राप्ति सभी मागों से हां सकती है परन्तु भक्तिमार्ग सबसे श्रेष्ट है। भक्तिमार्ग की विज्ञाणता यह है कि सबजाति के मनुष्य, खी, शृद्ध ध्रादिभी इसके साधन से परमपद को प्राप्त कर सकते हैं। सब को पकसा फज मिलता है। मनुष्यजातिकी पकता और सालत्व पूरी तरह से वर्णित हैं। श्रीकृष्ण के उपदेश का रहस्य यह है कि "यदि योगमार्ग का सबग करो, तो मुक्त में दक्तियत हो। यदि भक्ति करो, तो मेरी भक्ति करो, तो मेरी अपासना करो। इनमें से किसी का भी साधन करोंग, तो मुक्तक प्राप्त हो सकते हो "।

सारांशयह है कि मनुष्यको सफलता और निष्फलता का विचार हो है अपना कर्तव्य करना चाहिये । ईरवर पर उसे पुरा भरोसा करना चाहिये । इस शतका निरन्तर ध्यान रखना उचित है कि जो कुछ मनुष्य करता है वह ईरवरकी इच्छासेही करता है । मनुष्य, नतो कमी सब इन्द्रियों कोही निरन्तर वशमें करसकता है, और न सर्वधा त्यागी ही होसकता है । यदि धर्मनियमानुसार इन्द्रियों का स्वव्य भोग किया जाय, तो वही फल प्रांस होसकताहै जो जितेन्द्रिय होनेसे प्राप्त होसकता है । श्रीकृष्ण का उपवेश है कि धर्मानुसार कर्म करना चाहिये । यहादि अनुष्ठान करने को श्रीकृष्ण मने नहीं करते. बव्हिक उनका यह कथन है कि व कर्म भी किये आये; परन्तु इनके करने में मनुष्यको छित्र न होजाना चाहिय । श्रीकृष्णजी के कथनानुसार सन्यास का यह श्रश्चे हैकि मनुष्य जो कुछ मी कर्म करे, उसमें फलकामना त्याग दे—यह नहीं कि सर्वधा संसार को ही त्याग दे । त्यागका शमिश्राय यह है कि जो कुछ कर्म

मनुष्य करे, उसमें भ्रभीएफतकी वासना छोड़ दे—यह वहीं कि सर्वथा कर्म करनाही छोड़ दे। ब्रह्मचर्य्य का अर्थ यह है कि गृहस्थी, पवित्र जीवन धारन करे, न कि यह कि विषय भोग को सर्वथा त्याग दे-व्रत और उपवासका यह अर्थ हैकि मनुष्य अल्प आहार करे—यह नहीं कि आहार करना ही त्याग दे।

श्रीकृष्ण ने सगुण ईश्वर की उपासना वताई है। कहा है कि ईश्वर संसार का लाए, न्यायकारी, रक्तक और अधिष्ठाता है। अर्थात् धर्म करने वालों की रक्ता करता है और दुएंको दग्रह देता है। ब्राह्मण, चांडाल, ख्री, पुरुप, कोई क्यों न हो, जो दढ़मां के और पूर्णश्रद्धां है श्वर की उपासना करता है, वह परमधामको प्राप्त होता है। वेदान्त, सांख्य योगादि शालों के सिद्धान्तों को श्रीकृष्ण ने अपने प्रतिपादित ईश्वर-विषय में मिला दियें हैं।

खिशी उत्पत्ति, झारमा छौर परमात्मां संयोग से होती है। धारमा और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध होजानाही मेरजमित का मांग है; यह सब विषय गीता में सम्बक् प्रकार प्रतिपादित हैं। धर्ममार्ग- अनेक हैं-कर्मयोग, मिल्योग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, संन्याल योग इत्यादि। जात के भिन्न २ देशों में भिन्न २ धर्ममार्ग हैं। गीता, इनमें से किसी की भी निन्दा नहीं करती है। श्रीहृष्ण का कथन है कि रैम्बर को प्राप्त करने के ध्रोनक मार्ग हैं- कोई सीधा और कोई टेड़ा; परन्तु ये सब मार्ग एकही स्थानपर पहुंचते हैं।

ये यथा मां प्रपद्मन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । समवर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

गीता में सब प्रकार का धम्मे और सदाचार वताया गया है। पापके मृद्धसे गृद्ध कारण दिखाय गये हैं और उनके नाश करने के उपाय भी वताए गएँहैं। गीता धर्मीपदेशका अमृत्यरत्न है। कीन ऐसा मनुष्य है जो इस रत्नकों न लेना चाहे। भारतवासियो ! इस अमृतधाराको पियो; इसके पान करने से तुम अमर और निरन्तरसुखी हो जाओगे।

## श्रीकृष्ण की गीता।

सर्वीपि निषदे। गावे। देशधा गीपाल नन्दनः । पार्थे। वत्सः सुधीभीका दुग्धं गौतास्तं सहत्॥

संसार भर की धर्म पुस्तकों में गीता का उच्चतम रथान है। पेद, उपनिपत्, शास्त्र, धर्मस्मृतियां-इन सव का निचोड़, गीता है।गीता की महिमा इसी देश में नहीं, विका समस्त भूमंडल में फैल रही है। इस का अनुवाद धनेक भाषाधों में हो चुका है। योरप देश के विद्वानों ने भी मुक्तकग्रह से इस की प्रशंसा की है। इस में चमत्कार की वात यह है कि जितने धर्म थ्रौर सम्प्रदाय हैं, उन में से फिसी का खण्डन नहीं है, किन्तु उन सब के गूढ़तत्वों को मानते हुए श्रीहरण्याभगवान् ने श्रपना कुछ विस्रक्षग्रही उपदेश किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत कुछ घाद-विवाद के प्रधात् इस बात को सान लिया है कि शीता एक प्राचीन पुस्तक है और महात्मा ईसा के जन्म से पहले की ही चली आती है। उन के विचार से गीता, ईसा के ५०० वर्ष पहले की बनी हुई प्रमाखित होती है। इस पुस्तक में श्रद्वारह अध्याय और ७०२ श्लोक हैं, और प्राचीनकाल में जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रचितित थे, उन सभी का उल्लेख इस में है। एक गीता पढ केने से प्राचीनकाल के सभी सिद्धान्तों से परिचय हो सकता है। इस पुस्तक के सिद्धान्तीं को कोई सन्यास धीर वैराग्य विषय में लगाता है, कोई, मिक विषय में, श्रीर कोई, कर्म-योग विषय में । इस समय गीता को कर्मयोग विषय में लगाने की चेप्रा हो रही है। यह अन्य ही पैसा अद्भुत है कि जिस विषय में चाहो, उस में इसे लगा लो। इसमें कोई संदेह नहीं कि गीता के उपदेशों का अकाव कर्ममार्ग की तरफ़ ही है।

इस वक्तव्य के पश्चात्, गीता में जो २ विषय हैं, उनमें से कुछ का वर्णन यहां संतेपरूप से करते हैं।

#### सृष्टि

सृष्टि के विषय में गीता का मत यह है कि ब्रह्म, ग्रपनी योगमाया के द्वारा, करप के ग्रारम्भ में संसार को उत्पन्न करता है और प्रलय के समय यह सब उसी में लय हो जाता है । यह योगमाया सत्व, रज. ग्रीर तम, तीन गुणों को बनी है। इन्हीं गुणों से कार्य कारण भाव की उत्पन्ति होती है। इस शाक्ति के दो रूप हैं, परा ग्रीर ग्रपरा। परा, शाठ चीज़ों की बनी है, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, ग्रीर ग्रहंकार। केन्न ग्रीर देव विकार, सब इसी के बने हैं, ग्रायांत् महाभूत, अहंकार, जुद्धि, ग्रव्यक्त, पांच कानेन्द्रियां, पांच कमेन्द्रियां, मन, पांचीं क्षानेन्द्रियों के विषय, इन्हा, द्वेष, खुख, दुख, संवात, चेतना, शृति। अपरांशिक सब जीवों की जीवनशक्ति है। उसी से सबकी उत्पन्ति है।

सम यानिमें हर्ब्रह्म, तस्मिन् गर्भे दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां, तता भवति भारत ॥ श्ला. रथ

करुप के आदि में सृष्टिकाम इस प्रकार है। प्रथम सप्तक्रापि उत्पन्न हुये, उसके पाँछे सनक सनन्दन सनतकुमार, उसके पाँछे मंतु ध्यादि की मन से उत्पत्ति हुई और इनसे मनुष्यों की उत्पत्ति हुई; इस प्रकार संसार चला। यह उत्पत्ति सांख्य शास्त्र के अनुसार है।

#### नीव।

जीव के विषय में गीता यह कहती है:—

ममैवांशो जीवलों को जीवभूत: समातन:

मन: षष्ठानी न्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।॥ भ्रा १५

वर्ध-मेरा ही अंश जीवलोंक में सनातन जीव का रूप हो कर, प्र
इति की बनी हुई इन्द्रियों छार मन पर, ग्राधिकार जमाता है।

श्ररीरं यदवाप्नाति यचाप्युत्क्रामतीश्वरः । गृष्टीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयत्॥८॥ श्र.१५ जब शंरार धारण करता है और जब शरीर क्लोइता है, तो इन

जब शरीर धारण करता है और जब शरीर छोड़ता है, तो इन इन्द्रियों ख्रीर मनको साथ धी ले जाता है; जैसे कि वायु सुगन्धि के स्थानों से सुगन्ध ले जाती है।

श्रीचं चलु: रपर्शनं च रसनं घ्राणमेव च

अधिष्ठाय अनश्चायं विषयानुपसेवते ॥८॥ अ.१५

कान, आंख, स्पर्श, रसना, गन्ध, और मन, इन सव पर प्रधिकार करके इन्द्रियों के विपयों को वहीं भोगता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि मुद्धानं वा गुणान्वितम्। विमृद्धानानुपश्यन्ति पश्यति ज्ञान चचुषः॥१०॥॥,१५

भर्थ-जब यह जीव गुणों से वँधा हुआ देह हो। इता है, स्थित रहता है, अथवा उसका भोगता है, तब मृद्ध पुरुष तो उसे नहीं देखते, परन्तु झान चहु वालों को सब दिखाई देता है।

#### परसात्सा

ंदाविमी पुरुषी खाका चरश्चाचर एव च ।

. चरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थे।ऽचर उच्यते ॥१६॥ छ् १५

अर्थ-इस खंसार में दो पुरुष हैं, तर ग्रीर श्रत्तर—नाशवान् श्रीर श्रविनाशी। जितने संसार में पदार्थ हैं, सब नाशवान् हैं (त्तर हैं) और आत्मा श्रत्तर अर्थात् ग्रविनाशी है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः

या लोक्चयमाविषय विभार्यं वयय देशवर ।। १७॥ श्र. १५ प्रथ-सबसे श्रेष्ट पुरुष तो और ही है, जिसे परमातम कहते हैं; वही तीनों छोकों को धारण करता हुआ अविनाशों ईस्वर है। न कर्तृत्वं न कमीणि खोकस्य स्वति प्रभुः। न कमीपालसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ स.५

अर्थ-संसार का प्रभु न कर्तापनको, न कर्मों को श्रोर न इनके फल सम्बन्घ को उत्पन्न करता है, स्वभाव से ही सब प्रकृति की प्रवृत्ति है।

असत्तः परतरं नान्यत्विश्चिद्स्ति धनञ्जय । सयि सर्वेसिदं प्रीत्तं सूचे सणिगणा द्रव॥७५.७

अर्थ-उससे परे कोई नहीं है। जैसे डोरी में मोती पुरे होते हैं उसी प्रकार सन संसार के पदार्थ उसके आधार पर हैं। अध्याय १० के २० से ३० तक स्ट्रोक देखें।

#### . जीव श्रीर ईश्वर का सम्बन्ध।

जीव, ब्रह्म का अंश है परन्तु ब्रह्म अविभक्त है; जैसा १३वें अध्याय के १७ वें रुशेक में कहा है। इसिलिये जो पृथक्ता दिखाँह देती है, यह माथा से हैं। वास्तव में जीव और ब्रह्म एक ही हैं। माथा हृट जाने पर कोई पृथक्ता नहीं रहती है।

मोत्त प्राप्त करने के बहुत मार्ग हैं, जिनमें से मुख्य मुख्य निम्न क्रिस्तित हैं।

# १०-कर्मयोग।

कर्मप्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । माक्मफलहेतुर्भूमी तेसगाऽस्त्वकर्मणा४०॥ स.२

अर्थ-तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है, इसके फलकी प्राप्ति में नहीं; कर्म के फल की कामना से कर्म मत करों; श्रीर न कर्म ही करना छोड़ दो।

### २-ध्यानयोग।

यागस्यः वुक् कमीणि सङ्गं त्यक्ता धनञ्जयः। सिद्ध्यसिद्ध्योः समेर्गूला समत्वं याग उच्यते॥४८अ.२

अर्थ-वासनार्थीं को छोड़ ध्यानयोग में तत्तर हो, सिद्धि श्रीर असिद्धि में समभाव हो; क्योंकि योग का अर्थ समभाव होना ही है।

वृद्धियुक्तो जहातीह उमे सुक्ततदुष्क्रति । तस्माद्योगाय युच्यस्व योगः कर्मसु की शर्व ॥५०॥ च. २

मर्थ-बुद्धि को स्थिर कर योगकरने वाला अच्छा बुरा सब कर्म त्याग देता है। ऐसा योग करो, कर्भ करने में कुशलता का नाम योग है।

### ३--ज्ञानयोग।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्तः क्षत्स्नकर्मकृते॥१८॥अ.१

श्चर्य-जो कर्म में श्चकर्म और श्चकर्म में कर्म देखता है, वह सब कर्म करता हुआ भी मनुष्यों में ज्ञानवान और योगी है।

यस सर्वे समारम्भाः कामसङ्करपवर्जिताः। ज्ञानाग्निद्ग्धकर्माणं तमाहः पण्डितं वृथाः ॥१८ ग्र.४

श्रर्थ-जिसके संव काम कामना के जेश से शून्यहें और जिसके सब कर्म ज्ञानानि से दग्ध हो गये हैं,उसेही ज्ञानवान लोग पंडित कहते हैं।

गतसंगस्य मुतास्य ज्ञानावस्थित चेतसः। यज्ञायाचरतः कर्मसमग्रे विष्रजीयते।। २३॥ अ. ४ अर्थ-जिसकी वासना जाती रही है, जिसका चित्त ज्ञानावस्था में मग्न है, जिसके कमें यज्ञां के समान है, उसके संव कम्में लोप हो जाते हैं।

यपि चेट्सि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापक्तत्तमः। सर्वन्नानप्तवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥ अ ४

ध्यर्थ-यदित् सब पापियों से भी पापी क्यों न हो,ज्ञानवङ्घी के द्वारा सब पापों के पार क्षो जायगा।

### ४-सन्यासयोग।

सन्यास का रहस्य यह है:-

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।

सर्वेकमेफललागं प्राहुम्लागं विचचणाः ॥ २॥ अ०१८

ध्यर्थ-कामनायुक्त कर्मों का त्याग करना सन्यास कहा है, सब कर्मों के फलका त्याग करना त्याग है। श्रीकृष्ण का उपदेश हैकि विहित कर्मों का त्याग उचित नहीं, केवल कर्म फल कोड़ना उचित है।

नहिंदेह भृता शक्यं त्यक्तं कर्माएयशेषतः। यस्त कर्मफलत्यागौ स त्यागौत्यभिधीयते॥११ ख.१८ अर्थ—सब काम कोड़ देना मनुष्यों के क्रिये असम्मव है, इसिलिये कर्म-फल को त्याग देनाही त्याग है।

### 😘 ५-भक्तियोग ।

यत्वरीषि यद्वनासि यज्जुहोषि ददामि यत्। यत्तपस्यसि कोन्तयं तत्वुक्व मद्रपेशस्॥२७ स.८॥ अर्थ—जो कुक त् करे, जो कुक खाये, जो कुक ह्वन करे, जोकुछ दान करे, या जो कुछ तपस्यां करे, वह सब अर्थण करके कर। सर्वधर्मान्परित्यच्य मामेनं शर्गं व्रज । अहं त्वां सर्वपापिभ्या माचियव्यामि मा शुचः॥६६॥१८

श्रर्थ—संब धर्मी को क्वोड़ केवल मेरी शरण ग्राः। में सब पापों से ' तेरी मोत्त कक्ष्मा। शोक मत कर।

इन मार्गों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण का यही कथन है कि जितने मार्ग हैं सभी थच्छे हैं, क्योंकि—

ये यथा मां प्रपद्मन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थं सर्वथः॥११ स्रष्ट॥

श्रर्थ—जो जिस प्रकार से मेरी उपासना करते हैं, मैं उसी प्रकार से उनसे मिल जाता हूं। हे अर्जुन, सब प्रकार से मनुष्य मेरे ही मागों में श्रात हैं। सबका सारांश यह है।

छेयोडि जानसभ्यासाज्जानाद्ध्यानं विधिष्यते। ध्यानात्कर्भेफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२ अ१२

श्रर्थ — अभ्यास मार्ग से ज्ञान भार्ग श्रट्या है, ज्ञान से ध्यान अच्छा है। इस त्याग से श्रनन्तरशान्ति श्रयवा भोज्ञ प्राप्ति द्वोती है।

### मोक्ष ।

मोत्त में महारूप होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है; जैलाकि कहा है-संयोगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतीऽधिगच्छति॥२४॥५

इस परम सिद्धि की प्राप्ति करने के पीछे इन महात्माओं का फिर न जन्म होता है नवे इस नाशवान दुःख के संसार-स्थान में प्राप्तेहैं। यथा-

मासुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयम् शास्त्रतम् । नाज्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमागताः॥१५॥ ८ जःमसृत्युजरादुःखे विमुक्तोऽसृतसश्नुते॥२० अ.१४ धर्य-वे, जन्म सृत्यु और वृद्धावस्थादि दुःखों से मुक्त होकर असृत पान करते हैं, अर्थात अमर हो जाते हैं। यह पद निरन्तर शान्तिसुख का स्थान है—

न तद्भासयते सूर्ये। न श्रशांको। न प्रावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धास परमं सस॥६ श्र १५॥ धर्थ-यहां न सर्वे का, न चन्द्रमा का, न श्राग्त का श्रकाश है, यह मेरा परमधाम है। यहां पहुँच कर संसार में फिर जी दना नहीं होता है।



## दुर्शनशास्त्रों के सिद्धानत।

दर्शनशास्त्रों का महत्व कौन नहीं जानता है। इनकी समस्त भू-मण्डल में महिमा फैली हुई है। योरप के बड़ेर विद्वानों ने इनकी मुक्त-कर्यंड से प्रशंसा की है और कहा है कि मध्याहंकालसूर्य के प्रचण्ड तेज के सहश तेजके सामने योरप का क्षान-शास्त्र एक धुंधले टिम-टिमाते हीएक के मिलन प्रकाश के प्रशांतर है।

दर्शनशास्त्र हाः हैं—वेदान्त, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग घौर पूर्वमीमांसा । इन झांद्रों शास्त्रों के रचायताओं के ये नाम हैं—व्यास, किपल, गौतम, कणाद, पतआक्षि, जोमिन ।

यदि विचार कर देखा जाय, तो सब ज्ञान और विज्ञान शास्त्रों में -मुख्यतः तीन विषयों का विवेचन है, अर्थात् ईश्वर क्या है? जीव क्या है ! संसार क्या है और कैसे उत्पन्न हुआ है !

वर्शनशास्त्रों के विचार इन विपयों पर स्ट्मतः नीचे लिखते हैं।
पूर्वोक्त कः शास्त्रों में योग और पूर्वमीमांसा ऐसे शास्त्र हैं कि
जिन में इन विषयों पर कोई स्वतंत्र विचार नहीं किया गया है। इस
कारण इन दो को छोड़, बाक्री के चार दर्शनों के विचार सिखते हैं :—

न्याय श्रीर वैद्योषिक शास्त्रों का परस्पर गाइसम्बन्ध है। इन दोनों के विचारों में सिजता नहीं है; इस लिए इन दोनों के सिद्धान्त साथर हा जिस्ति हैं।

जीव क्या है ? इस विषय में गौतम और कणाद के ये सिद्धान्त हैं:-दक्काद्देषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानाःचात्मनी जिङ्कामिति । प्राणयाननिमेषोन्मेषमनागतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुखेक्काद्देषी प्रयत्नञ्चात्मनी जिङ्कानिः-

श्रर्थ — प्राण ( सांस बाहर निकालना ), यान ( सांस भीतर सींचना ), नेत्रों को खोलना, बंद करना, मन, गति ( चलना फिरना ),

इन्द्रियां, अन्तरविकार (श्चुधादि ), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न; ये सव जच्चण जीव के हैं। जीव श्रेनेक हैं, एक नहीं।

पश्चिमीय विद्यानशास्त्रवेत्ताओं ने भी जीव के ऐसेही छत्तगा माने हैं। ईश्वर क्या है? इसका उत्तर इन दर्शनों में इस भांति है :—

ईर्श्वर सगुण है। सत्य, दया, वल, ज्ञान; ये सब गुण ईर्श्वर में अन्तिम सीमा के हैं। ईश्वर संसार का रत्नक और अधिष्ठाता है, परम दयालु और न्यायकारी है, मनुष्यों को कर्मानुसार सुखदुःख देता है।

कृतिं पुराणमनुशासितारमणारणीयांसमनुस्मरेदाः । सर्वस्थिधातारमचिग्व्यक्षपमादित्ववर्णतमसापरस्तात्॥

पिताऽहमस्य जगता माता घाता पितामहः।
विद्यं पित्रचमाक्षार ऋक् साम यजुरेव च ॥
गतिर्भती प्रभुः साची निवासः, शरणं सं हृत्।
प्रभवः प्रजयः स्थानं निधानं वीजमव्ययम् ॥

अर्थ—ईश्वर संवैद्य है, पुराने से पुराना है, समस्त संसार का मानुशासन करने वाला है, छोटे से छोटा है, उसके रूप का चिन्तन नहीं हो सकता है, अंधकार से परे है, और उसमें सूर्य का तेज है। ईश्वर जगत् का पिता, माता, धाता, 'प्रपिता है। ऋक्, साम यर्जुर्वेदादि वही है। वही पवित्र जानेनयोग्य वस्तु है। ईश्वर ही संसार की गति है, वही संसार का मर्ता, प्रमु, साझी, निवास, शरण सुंहद, प्रमुंव, प्रसुप स्थान, निधान और ग्राव्य वीज है।

इनं श्लोकों से यह भी ज्ञात हो गया होगा कि ईश्वर और जींच का क्या सम्बन्ध है।

ईश्वर का जीव के साथ माता, पिता, घाता, मर्ता, प्रभु सुहदादि का सम्बन्धे हैं। ईश्वर ध्रोर जीव एक नहीं हैं, पृथक् २ हैं, ध्रोर न सब महुन्यों के जीव एक ही हैं; प्रत्येक प्राणी का जीव पृथक् २ है।

संसारोत्पत्ति के विषय में न्याय छोर वैशेषिक का यह मत है कि संसार परमाणुओं से बना है। परमाणु वह है जिसके न टुकड़े हो सकें, न जिस का कुछ विस्तार हो और न जो दिखाई दे। दो २ तीन २ चार चार परमाणु आपस में मिजकर पदार्थों के रूप में दिखाई हने जगते हैं। सब संसार इन परमाणुओं के परस्पर मिजने से बना है।

ष्मव सांख्य दर्शन के सिद्धान्त सुनिय।

जीव को लांख्यदर्शन में पुरुष के नाम से पुकारा है और पुरुष के

पुराव अनादि है, गुणों से रहित है, सुश्म से सुश्म है, देशकालादि के बंघन से परे हैं; वह न कोई कर्म करता है, न स्वयं उत्पन्न हुआ है, ज्ञोर न किसी वस्तु को उत्पन्न करता है, अमर और नित्य है। सब मोषों से निष्कलंक है, प्रकृति की रचना को देखने वाला है, बुद्धि, मन, इन्द्रियां इन सब के परे हैं, देश, काल, कारण, वन्धनादि जाल से विमुक्त है, उसे खुल दुःल कुक नहीं होता है। अच्छे युरो किसी प्रकारके कर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पेसे पुरुष अनेक हैं, एक नहीं, अर्थात् जितने संसार में प्राणी हैं, सबके पुरुष पृथक् २ हैं-एक नहीं हैं।

पुर्व के जक्षण पढ़ने के पीछे यह प्रश्न उठता है कि जब पुरुष को खुल-दु ज नहीं होता तो किसे होता है ? कमें का फल कौन भोगता है ? ससार में किस का श्रावागमन होता है ?

इसका यह उत्तर है कि पुरुष के सिवा पक लिक्न शरीर और है। उसी को सब सुख दुम्बादि होते हैं और उसी का आवागमन होता है। यह जिक्न शरीर १८ चीजों का बना है, ग्रर्थात् बुद्धि, ग्रहंकार, मन, पांच तन्मात्राएँ ( शब्दादि ), पांच श्रानेन्द्रियां और पांच कर्मोन्द्रयां। शब्द, स्पर्श गंधादि के आदि कारणों को तन्मात्राएं कहते हैं। कान, नाक, नेत्र, जिल्ला, धौर त्यक्, ये पांच क्रानेन्द्रियाँ हैं । मुख, हाथ, पैर, लिल्ल, घ्रौर गुदा; ये पाँच, कर्मेन्द्रियाँ हैं ।

विचार कर देखा जाय, तो जिसको न्याय श्रीर वेशेपिक दर्शनों ने जीव कहा है उसी को सांख्य ने जिङ्ग शरीर के नाम से पुकारा है; क्योंकि संसार का सब कार्य छिङ्ग शरीर के द्वारा ही होता है। पुरुप को इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। पुरुप तो केवल चुपचाप वैठा प्रकृति की कीड़ा देखता रहता है; प्रकृति के कार्य में कोई हस्तच्चेप नहीं करता है। जब पुरुप प्रकृति का सम्बन्ध प्रचलन होने लगता है, तब संसार बनना प्रारम्भ होता है; प्रकृति में श्रमेकानेक विकार होने छगते हैं। उत्पासिक्षम यह है:- पहिले बुद्धि, फिर शहंकार, फिर तन्मानारं, फिर १६ विकार, अर्थात् पांच कानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पांच महाभूत। इस प्रकार प्राकृतिक संक्षम से संसार की रचना हुई। जब प्रति संकाम होता है, तो प्रलय हो जाती है। बुद्धि से छगाकर पापाया तक वस्तुरं, प्रकृति-संक्षम से उत्पन्न होती हैं। पुरुप का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इन विपयों में वेदान्तदर्शन के निम्नतिखित सिद्धान्त हैं:---

सांख्य ने जिस प्रकार पुरुष के लक्ष्मण माने हैं, वैसेही वेदान्त मानता है। सांख्य में इसका नाम पुरुष है, और वेदान्त में इसका नाम भ्रात्मा है।

भ्रातमा सब गुणों से रहित है, सूहम से सहम है, इंन्द्रियों से परे है, निर्देश है, नित्य प्रकाशमान है, संसार के मीतर वाहर दोनों है। न वायु से उड़ सकती है, न पानी से भीग सकती है, न चलाये चल स- कती है, न कोई सांसारिक काम करती है, न यह करना उसका काम है, 'में' तू' इन उपाधियों से रहित है।

न जायते स्नियते वा कदाचिनायं भूत्वा भविता वान भूयः । अज्ञी नित्यः शाखतीऽयं पुराणी न इन्यते इन्य-माने शरीरे ॥

( ग्रात्मा ) न जन्म छेती है; न मरती है, न उत्पन्न होकर नाश को प्राप्त होती है और न उसका जन्म होता है, वह नित्य है, ग्रानन्त है, प्राचीन है। हार्रार के मरने पर उसका नाहा नहीं होता है।

नैनं किन्दिति शास्त्राणि नैनं दहितं पावंकः। न चैनं क्लेद्यन्त्यापा न शाष्यति मास्तः॥

डसका छेदन न शस्त्रों से हो सकताहै, न उसे अग्नि जला सकतीहै, न जल मिगो सकता है, और न पर्यन् सुखा सकती है।

षच्छेद्यीऽयमदाच्चीऽयमक्ते द्योऽशिष्य एव च। निव्यः सर्वगतः स्यासुरचलीऽयं सनातनः॥

न यष्ट्र देदी जा सकतीहै, न जलाई जा सकती है, न भीग सकती है, न सूख सकती है; वह नित्य,सर्वन्यापी, ध्रनन्तस्थितिवाली, ध्यचल और सनातन है।

जिसको जीव कहते हैं और जिसके जन्नण "में" "त्" हैं, वह प्रकृति वयवा माया का बना हुआ है। सांख्य में इसे जिङ्ग ग्रारेर कहा है, और वेदान्त में स्क्ष्म शरीर। पांच क्षानेन्द्रियां, पांच क्रमेनिद्रयां, पांच प्राण, मन श्रीर बुद्धिः इन १७ चीज़ों का स्त्रून श्रारेर बना है। ये जन्नण सांख्य के लिक्क शरीर से मिज़ते हुए हैं।

सांख्य थ्रौर वेदान्त ने आत्मा का रूप छगभग एकसा ही माना है; अन्तर इतना ही है कि सांख्य में तो पुरुष श्रनेक माने गये हैं, और चेदान्तमें केचल एक जिसे आत्मा कहा है। एक आत्माही देश-काल-कारण वंधन ( Time, Space and Casualty ) रहित हो सकती है, अनेक नहीं। जितनी पृथक्ता और भिन्नता दिखाई देती है, वह सब इन तीन चीज़ों की ही है। यदि कोई ऐसी वस्तु है कि जिसमें ये तीनीं चीज़े नहीं हैं, तो वह एकही हो सकती है, अनेक नहीं; अतएव आत्मा एक है, अनेक नहीं।

ईश्वर विषय में, वेदान्त, निर्भुण ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। ब्रह्म निर्भुण, निराकार और नित्य है। समस्त संसार की सत्ता उसी से है। ब्रह्म में शब्द स्पर्शादि विकार नहीं हैं। जरामरण का वंधन भी कोई नहीं है। वह अनादि अनन्त है, बड़े से बड़ा है, क्रोट से क्रोटा है और कंच से कंचा है। आकारवालों में निराकार है, नाशमानों में प्रविनाशी है, सर्वव्यापी है और संसार का आधार है। उस तक बांगी, नेत्र, मन कोई नहीं पहुंचते हैं। संसार के किसी पदार्थ से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती है। उसे केवल नेति नेति शब्दों से पुकारते हैं। संसार में जो विचित्रता दिखाई देती है वह प्रविवेक के कारण है। यदि अविवेक-निद्रा ट्रुट जाय, तो पुरुप और प्रकृति में कोई सम्बन्ध न रहे।

लांख्य ने ईश्वर विषय में कुछ नहीं कहा है, केवल सगुण ईश्वर की श्रीसिद्ध मानी है। सगुण ईश्वर की वासिद्धि ठहराकर निर्गुण ब्रहा का प्रतिपादन नहीं किया है। सगुण ईश्वर न मानने के कारण कोई कोई सांख्य मत को नास्तिक मत भी कहते हैं; परन्तु सनातनधर्म में तो छहीं शास्त्र वरावर माने गये हैं। यदि सनातनधर्म में केवल सगुण ईश्वर ही माना जाता, तो सांख्य को नास्तिक कहना ध्यनुचित नहीं था। इस धर्ममें तो सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के ईश्वर माने गयेहैं; अतयव सांख्य मत को नास्तिक कहना ठीक नहीं है। वास्तव में देखा जाय,तो सांख्य,ईश्वर की सत्ता का निषेध नहीं करता है, केवल सगुण ईश्वर का होना खासिख मानता है।

संसारोत्पत्ति के विपय में सांख्य का बड़ा गौरवशाली विचार है। यह वही विचार है जिसे योरप के विद्वान इस समय मान रहे हैं। डार-विन ग्रौर स्पेन्सर के सहस्तों वर्ष पहले कपिलमुनि इस विचारको प्रकट कर चुके थे। इस विचार का नाम परिणामवाद या विकासवाद है।

संसार की उत्पत्ति प्रकृति से है। प्रकृति में सत्व, रज और तम तीन
गुण हैं। जब इन गुणों में से किसी गुणकी अधिकता होती है,तो प्रकृति
में संचलन होने जगता है। सब प्राकृतिक दृश्य इसी दैवीमायाविनी के
खेल हैं। संसार एक प्रकार का रहस्य है। जिस्न किसी के पास इसकी
कुजी है, वह उसको जान स्ति। है।

संसारप्रपंच ब्रह्म का आवरण है; जिसने इस आवरण को ज्ञान क्यी शक्त से छेद डाला है, उसे साक्षात् परमारमा की मलक दिखाई दे गई है। जितने सुन्दर, मनेष्टर और आकर्षणकरेनवांत पदार्थ संसार में हैं, सबमें परमारमा की ही शक्त है। नाम क्र्य के अनन्त विस्तारित आवरण के छित्रों से परमारमा के चमरकार की भज्ञक दिखाई देती है। पिक और कोकिता के मधुर गान में वही है। पुष्पवादिका की सुगंधि वही है। नचत्रों की ज्योति वही है। नचयोवना के सुन्दर कप में उसी की शक्त है। मेघ के प्रचएड गर्जन में उसी का शब्द है। अन्तः करण की शान्तवाणी में वही बीजता है। समुद्र की तुक्त तरंगों में उसी की शक्ति है। मागीरथी के जलप्रवाह में उसी का उद्देग है। चक्ता के पर-लाजित्य में उसी का प्रमाव है। चित्रकार की लेखनी में उसी का महत्व है। शिल्पकार की टांकी में उसी की शक्ति का आविष्कार है। न्याया धीश का वही न्याय है। योद्धा का वही वीरत्व है। परोपकारी का वही

धर्भ है । लिह का कोप, वकरी की दीनता, हिरण की चंचलता; सव उसी की शक्ति के रूप हैं।

उपनिपदीं में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार है :--

यत्तदृदृश्यमग्राह्यमगोचमवर्षभचनुःश्रोत्र तद्पाणि-पादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूच्मं तद्व्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धौरा ।

श्रर्थ-वह दिखाई नहीं देता है, न ग्रहण किया आसकता है, न उसका जन्महै,न उसका कोई वर्गहै,न उसके नेत्र हैं, न कानहैं, न हाथ हैं, न पैर हैं; यह नित्य है, ज्यापी है, सर्वेत्र वर्तमान है, स्रश्म से स्रहम है. व्यविनाशी है। धीमान् पुरुष उसे सब शांगियों का शाहिकारण कहते हैं।

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकानेमा विद्युता-भान्ति कुताऽयमिन । तमेवभान्तमनुभाति सर्वन्तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

भर्थ-वहाँ न सूर्य प्रकाश करता है, न चन्द्रमा, न तारे । जब विजली तक वहां नहीं प्रकाश करती है, तो अब्रि की क्या पहुंच है। उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं। उसी के तेज से संसार में उजाला है।

सूर्ये। यथा सर्वजीकस्य चचुर्न जिप्यते चाचुपैनी ह्य दोपै:। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते जीक दु:खेन बाह्य:॥

धार्थ — जैसे सूर्य सब लोक की चक्षु है, और नेत्रों भ्रोर वाहर की वस्तुओं के दोषों से दूषित नहीं होता है, वैसेही सब जीवों में वर्तमान श्रात्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होती है; क्योंकि वह संसार के दुःखों से परे है ।

सर्व्वाननिशरोगोवः सर्व्वभूतगुराशयः॥ सर्विद्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः॥

द्यर्थ—वंह सब का मुख है, सबकी श्रीवा है और सब जीवों के हृदयमें स्थित है;वहसबका स्वाम ,सर्वव्यापी,सर्वग्रामी श्रीर ग्रानन्दरूपहै।

यन्मनसा न मनुते येनाइभैनामतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

अर्थ—जो मन करके ध्यान में नहीं द्याता, किन्तु मन का ज्ञान जिससे होता है, उसे ब्रह्म जानो, न कि उसे जिसके सामने उपासक बैठतें हैं।

न तच चचुर्गेक्टित न वाग्गक्टित नो मनानिवद्मो न विजानीमा यथैतदनुभिष्यादन्यदेव तिहिदताद्या स्विदिताद्धि ।

धर्थ—वहां नेत्र, वाणी, मन, किसी की पहुँच नहीं है, हम उसे नहीं जानते हैं, न यह जानते कि वह क्या है; जो कुछ जानने में भाया है उससे वह पृथक् है, जो कुछ जान ने में नहीं भाया है उस से भी पृथक् है।

नैनमूर्द्धन तिर्ध्यं न मध्ये परिजयसत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥

अर्थ-सिरसे ध्रथवा श्रगळ वगत्तसे या वीच से उसे कोई न्हीं पकड़ सकता है। उसके समान कोई नहीं है, उसका नाम महान् यहा है। श्रीचस्यश्रीत्रमनसी मनीयदाची ह वाचः सड प्राणस्य प्राणश्रचुषश्रचुरतिमुच्यथीराः प्रेलास्माली काद्मता भवन्ति।

अर्थ—वह कान का कान है, मन का मन है, वाणी की वाणी है, प्राण का प्राण है, नेत्र का नेत्र है। इस संस्रार को छोड़कर धीमान् पुरुष मुक्त हो जाते हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधि कश्च दृरंयते । परास्य शक्तिर्विवधैव श्रुयते खभाविकी ज्ञानवलेकिया च ॥

अर्थ-उसका न कार्य है, न कारण है; उसके समान बा उससे अधिक कोई नहीं दिखाई देता है; उसकी शक्ति वहुत प्रकार की है और स्वभाव, ज्ञान श्रीर वल के अनुसार काम करती है।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाऽयं नपुँसकः। यदाच्छरीरमादते तेन तेन स युज्यते॥

वह न स्त्री है, न पुरुप है, न नपुंसक है; जिसर शरी<sup>र</sup> को धारण करता है, उसी उसी करके युक्त होता है।

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़: सर्वव्यापी सर्वभूतान्त रात्मा। कम्मीध्यच: सर्वभुताधिवास: साची चेता केवली निर्शुणश्च॥

अर्थ—वही एक देव सब जीवों में छिपा हुआ है, सब में व्यास है, सब जीवों की आत्मा है, सब कमों का ग्रान्यत्त है, सब जीवों का अधिपति है, सब का चैतन्य सात्ती है, वह केवल निर्शुण है। वेदान्त में ब्रह्म और श्रात्मा को पकही माना है; क्योंकि जो देश-काल कारण उपाधियों से रहित है; वह दो नहीं हो सकते !

संसार की उत्पत्ति के विषय में वेदान्तमत सांख्य से मिलता हुआ है। जिस प्रकार सांख्य ने प्रकृति से उत्पत्ति वताई है, उसी के आधार पर वेदान्त ने सृष्टि-रचना मानी है, केवल इतना ही अन्तर है कि सांख्य प्रकृति को नित्य और स्वतंत्रव्यिक मानता है, वेदान्त इसे माया के नाम से पुकार कर अनिर्वचनीय कहता है। माया, न सत्य है, न असत्य है। माया का अनुभव हो सकता है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह क्या है। वह प्रपञ्च का पुंज है, परस्पर विरुद्धताओं का जाल है। यह जाल संसार को वांधे हुए है। माया की परिभाषा लिखना दुःसाध्य एवं असम्भव है।

यदि संसार परमाणुओं से बना हुआ है, तो आधुनिक विज्ञान इस मत को शीव्र ही खंडन कर देता है; क्योंकि जिन्हें परिमाणु कहते हैं वे सिवा शिक्त-विकारों के और कुछ नहीं हैं। स्वयं व्यक्ति रखनेवाले कोई परमाणु नहीं हैं। वेदान्त, माया को स्वयंव्यक्ति वस्तु नहीं मानता है, संसार को स्वप्रवत् कहता है। जैसा संसार जाव्रतावस्था में स्थूल दिखाई देता है वेसा ही स्वप्र में भी दिखाई देता है। यदि स्वप्रावस्थावाले संसार का कोई स्थूलाधार नहीं है, जो जाव्रतावस्थावाले संसार का कोई स्थूलाधार नहीं है। संसार तो पक जम्बा समार में भी इसकी कोई आवश्यक्ता नहीं है। संसार तो पक जम्बा सम है। आत्मा के निज्ञ रूप प्रकट होने पर यह स्वप्र लोप होजाता है। संसार को स्वप्नवत् कहना वड़े आक्ष्य की बात मालूम होती है; परन्तु संसार के सभी पारद्शी विद्वानों ने पेसा ही कहा हैं।

प्लेटो, प्लेटोन्यस, पैथेगोरस छादि यूनान देश के धुरन्घर तत्व-घेत्ताओं ने भी संसार को स्वप्नवस् वताया है।

. इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध कांचे टेनीसन क्षिखते हैं कि जय तक स्वप्त दिखाई देते हैं, सच्चे माळुम होते हैं; हम सभी इस स्वप्न में रहते हों तो क्या आश्चर्य है। श्रंगरेज़ी के श्रद्वितीय कवि शेक्सिपयर का वाक्य है 'जिस चीज़ से स्वप्न वने हैं, उसी के हम भी वने हुए हैं"।

वेदान्त का कथन है कि प्रकृति की केवल मनोमय सत्ता है, केई प्रथक स्थूल सत्ता नहीं। मनोमयसत्तावाली प्रकृति में संक्रम प्रति-संक्रम नियमों का प्रयोग उसी प्रकार हो सकता है जैसे स्थल सत्तावाली प्रकृति में । इस समय के उद्घट तत्त्ववेत्ताओं ने यह दिखा दिया है कि देश काल कारण ( Time, space and casualty ) जिनसे संसार बना है, केवल मनोमयसत्ता रखनेवाले हैं। इस विचार के चलानेवाले समसिद्ध केंद्र थे। वेदांत के सिवा और सब मताब-लम्बी यह मानते चले आये थे कि देश-काल-कारण, मन से अतिरिक्त स्वतंत्र सत्तावाले हैं। यह वैज्ञानिक त्रुटि अय संशोधित कर दी गई है। केंद्र ने भठीभांति सिद्ध कर दिखाया है कि इन वस्तुओं के सिवा, मन ( Mental ) के बाहरवाली ( Extra-mental ) श्रीर कोई सत्ता नहीं है। यदि देश-काल-कारण जिन से समस्त जगत की रचना हुई है. केवल मनोमयसचा ( Mental existence ) रखते हैं, तो स्पष्ट है कि संसार भी मनोमय है अर्थात स्वप्नवत है। इसी का नाम माया है। वेदान्तमतानुसार संसार अविद्या ( Nescience ) के कारण ही दिखाई देता है। यदि अविद्या हुट जाय, तो संसार भी दूर हो जाय।

ऊपर लिखे विचारों का सुद्दमतः यह सार है : --

१-न्याय श्रीर वैशेषिक दर्शन—

(१) जीव-जीव वह है जिंसे सुख दुःख इच्छा हैपादि होवे। वहीं कमें का कर्ता और भोका है।

जीव पृथक् २ हैं और ग्रानेक हैं।

(२) र्द्रपुत्र - ईश्वर सगुण है श्रीर जीव से पृथक् है। बह -न्यायकारी है श्रीर कर्मानुसार मनुष्यों को सुख दुःख भी देता है। (३) संसार-संसार की रचना परमामुद्रों से हुई है। संसार के जितने पदार्थ हैं, परमामुओं के पुंज हैं। इस का नाम परमामुनाद ( Atomic theory ) है।

#### २-सांख्य दर्शन।

(१) जीव श्रथवा पुरुष—पुरुष सुख दुःखादि से रहित है। वह न कर्म करता और न उनके फल भोगता है।

यह सब कर्म लिङ्गशरीर के हैं।

पुरुष तो केंबल अनादिं, अनन्त, अमर, अजर और निरन्तर बन्धन मुक्तं है।

पुरुप एक नहीं श्रातेक हैं।

- (२) द्रिपृत्वर ईश्वरविषय मं सांख्य इत्ना ही कहता है कि सगुग्र ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है।
- (३) संसार—संसार की उत्पत्तिं प्रकृति से हुई है। प्रकृति, पुरुष से पृथक् है और स्वयं व्यक्तिरखनेवाली है। संक्रम (Evolution) और प्रतिसंक्रम (Involution) द्वारा, सृष्टि और प्रलय होते हैं। इस विचारका नाम परिणामवाद प्रयवा विकासवाद (Evolution theory) है।

#### ३-वेदान्त दर्शन।

- (१) जीव द्यथवा द्यातमा—सांख्य ने जो पुरुष का रूप माना है, वही वेदान्त ने आत्मा का रूप माना है. अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य ने अनेक पुरुष माने हैं और वेदान्त ने केवल एक आत्मा।
- (२) र्द्रुप्रसर्-निर्गुण ब्रह्म जो सर्वन्यापी और संसार का आधार है।

(३) संसार—संसार की उत्पात्त उसी तरह जैसे सांख्य ने माना है, केवल इतना ही अन्तर है कि प्रकृति को माया कहा है, और इस माया को स्वयंसत्तावाली नहीं वताया है। माया व्यनिवेचनीय है, न सत्य है और न ग्रसत्यहै। इसका नाम मायावाद (Doctrine of Nescience) है।

पूर्वोक्त विचारों में कमशः विकास है । स्यायवैशेषिक दर्शनों की अपेक्षा सांख्य के और सांख्य की अपेक्षा वेदान्त के विचार अधिक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण हैं।

चार्वाकों (Materialists) के मत से लगाकर वेदान्त-सिद्धान्तों सक उत्तरात्तर विचारसंवर्धन दिखाई देता है। चार्वाक जोग शरीर को ही धारमा मानते थे। इनका कहना है कि धारमा शरीर से पृथक् गईं। श्रीर के साथ ही उसका जन्म होता है धौर शरीर के साथ ही उसका नाश हो जाता है। चार्वाकों की कई शाखाएँ थीं. परन्तु किसी शाखावालों का विचार न्याय धौर देशिपक की विचारगम्भीरता तक नहीं पहुंचा है। इनमें से कोई शाखावालों झानेन्द्रियों को, कोई कमेंन्द्रियों को, कोई मन को धौर कोई बुद्धि को धारमा मानते हैं। जीव के आवागमन (Transmigration of Soul) में इनका विम्वास नहीं है। ईश्वर को मुखाँ को मनकविपत ढकोछला बताते हैं धौर संसार की उत्पत्ति धापसमें शक्तियों के मिल जाने (Fortutous Concurrence of forces) से कहते है।

इन विचारों की तुलना न्याय-वैद्योपिक के विचारों से की जाय, तो यहा अन्तर विखाई देगा । न्याय ने जीव को दारीर से पृथक् मानाहे । संसार का कर्ता ईरवर को बताया है । संसार की उत्पात्ति का क्रम पर-मां जुओं द्वारा माना है । इससे अनुमान होता है कि चार्वाकों की अपेत्ता न्याय और वैद्योपिक दर्शनों में विचार की गम्भीरता और गुरुता है । इतनविचार में पहली श्रेशी चार्वाक मत की है, और दूसरी श्रेणी न्याय और वैद्योपिक दर्शनों की ।

जब न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तों से तुलना की जाती है, तो जैसा अस्तर चार्वाक और न्याय-वैशेषिक विचारों में देखा गया था वैसाही न्याय-वैशेषिक शौर सांख्य-विचारों में है। जिसे न्याय-वैशेषिक ने जीव माना है उसे सांख्य ने प्रकृति का एतला बताया है-जीव की महिमा . इससे भ्रत्यन्त श्रधिक वताई है। न्याय-वैशेषिकप्रतिपादित जीव सजर-अमर और नित्य नहीं है। जो लक्षण जीव के बताये गये हैं वे छिड़ शरीर के ही हैं, और लिख़ शरीर प्रकृति का बना हुआ है। सांख्य का पुरुष बड़ा महत्त्वशाली है। इसके सामने न्याय-वैशेषिक के जीव की कुछ भी तुलना नहीं है। ईश्वर के विषय में देखा जाय, तो न्याय-वैशेषिक के सग्रण ईश्वर का सांख्य के महत्त्वशाळी प्रमाणों के सामने लिख होना द्रःसाध्य पर्व असम्भव है । सांख्य ने इस विचार को इसी श्रेणी तक वढ़ाकर छोड़ दियां है । ससार की उत्पत्तिविषय में तो सांख्य ने वह महत्वात्मक विचार किया है कि जिसकी आज समस्त भूमगुडल में प्रशंसा हो रही है । जो विचार डारविन ग्रीर स्पेन्सर ने योरप की सम्यता में अब निकाल हैं, उन्हें कपिल मुनि सहस्रों वर्ष पहले लिख चुके हैं। इस विचार का नाम परिणामबाद (Evolution theory) है। विज्ञान शास्त्र ने न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद ( atomic theory ) का सर्वधा खंडन कर डाला है। सिद्ध कर दिया है कि जिनको स्थल परमाणु कहते हैं व वास्तव में कोई जड़ पदार्थ नहीं हैं, न वे संसारीत्पत्ति में मूल कारण हो सकते हैं। संसार में तो सिवा शक्तिविकारी (Ethereal currents) के और कोई जड़ पदार्थ (matter) मृत कारण नहीं दिखाँइ देता है। सांख्य ने प्रकृति के शक्तिविकारों द्वारा ही संसारेत्पित्तिवताई है।यही विचार श्राधुनिक विज्ञान शास्त्र (Science) का भी है। इन सब विचारों के देखते सांख्यको न्याय-वैशाषक से उच्चतर पदवी देनी होगी।अतपव सांख्य दर्शन की झानविचार में तीसरी श्रेगी है।

अव वेद्रान्त देखिय। जो उत्तरोत्तर विचारसंवर्धन न्याय-वैद्रोधिक भीर सांख्य-सिद्धान्तों में दिखाई देता है वही सांख्य भीर वेदान्तंसि-द्धान्तों में है। चार्वाकों ने दारीर ही को आत्मा माना, न्याय-वैद्योविक ने दारीर से पृथक् आत्मा मानी, परन्तु उसे सुख दुःखादि का भोका वताया। सांख्य ने पुरुपको इन उपाधियों से रहित माना श्रोर जिसे जीव कहा गया था उसका काम लिङ्ग शरीर से लिया। वेदान्त ने इस विचार को उच्चतम श्रेणी पर पहुंचा दिया। जो बुटिसांख्य के विचार में रह गई थी उसका वेदान्त ने संशोधन कर दिया। बुटि यह थी कि जब पुरुप देश-काल कारण-रहित है, तो पसे पुरुप अनेक नहीं हो सकते हैं। ऐसा तो एकही पुरुप हो सकता है; इसलिए बेदान्त ने आत्मा एकही मानी है। इस प्रकार सांख्य की बुटि दूर हो गई। जब आत्मा एक मान ली श्रीर उसके लक्ष्मण देश-काल-कारण-उपाधि रहित मान लिय, तो उसके और परमात्मा में कोई धमतर नहीं रहा। दोनों एकही हैं, केवल हिस्थान का अन्तर ही है।

ईश्वर विषय में देखिये। चार्वाक तो ईश्वर को मानते ही नहीं थे। न्याय-वैशेषिक ने लगुण ईश्वर का प्रतिपादन किया। सांख्य ने सगुण ईश्वर की असिद्धि मानी। वेदान्त ने निर्गुण ब्रह्म का विवेचन किया। वेदान्त का ब्रह्म पेसा हैं जो सब चराचर का आधार और सर्वव्यापी है। पेसे ब्रह्म के विना जगत् का परिमाग्नुओं अथवा प्रकृति से बनना ध्मीर चलना असम्मव है। जो कुछ शाक्तियां संसार में दिखाई देती हैं, इसी की सत्ताले हैं। निर्गुण ब्रह्म को असिद्ध करना नितान्त असंभवहै।

सांख्यानुसार संसारोत्पत्ति मानते हुए वेदान्त ने सांख्य की इस भूटि को दूर कर दिया कि प्रकृति स्वतंत्र सत्तावाली है। प्रकृति केवल माया है, बौर इसकी मनोमय सत्ता है। मनसे पृथक् माया की कोई सत्ता नहीं है। माया, न सत्य है और न असत्य है, अनिर्वचनीय है। आविद्या इसका मूल कारण है और इस लिए संसार स्वप्नवत् है। आविद्या के हटने पर संसार प्रपञ्च भी लोप हो जाता है। अगरेज़ी सुशिक्तितों को इस अवसर पर वरकते तत्त्ववत्ता का स्मरण हो उठेंगा। इस महानु भाव ने बड़ी विद्वता और वातुर्य से संसार को असार सिद्ध कर दिखाया है। पूर्वेत्क दर्शनिसद्धान्तसमालोचना से प्रात हुया होगा कि चार्वाकों का मत प्रानशास्त्र की सबसे नीची श्रेणों पर है, न्याय-वैशेषिक दर्शन उससे ऊंची श्रेणी पर हैं। सांख्य-दर्शन के सिद्धान्त इससे भी ऊंचे हैं और वेदान्त एश्वन का गौरव और महत्त्व सबसे ऊंचा है। वेदान्त इसीलिये इस नाम से पुकारा जाता है। वेदान्त का अर्थ वेद के आन्तिम सीमावाले सिद्धान्तों से हैं। इस समाक्षोचना से निम्न लिखित अनुमान निकलते हैं:—-

१—दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। जो लोग पेसा कहते हैं, वे इन सिद्धान्तों से अनिभन्न हैं। ये सिद्धान्त उत्तरोत्तर गौरवशाली होते गये हैं। न्याय-चेशियक के विचारों से सांख्य के विचारों से सांख्य के विचार अधिक महत्त्व के हैं, और सांख्य से वेदान्त के। इन शास्त्रों के सिद्धान्तों में परस्पर वही सम्बन्ध है जो मनुष्य की वाल तरुण और परिपक अवस्था में होता है। वालक, तरुणमनुष्य का विरोधी नहीं है, न तरुणमनुष्य, गाइतरुण और परिपक अवस्थावाले मनुष्य का विरोधी है। यही सम्बन्ध इन दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों में है। पेसा कहना कि दर्शन शास्त्र परस्पर विरुद्ध हैं, निरर्थक ही नहीं है, किन्तु मुखेता प्रकट करना है।

२-द्वेत ( Dualism ) द्योर अद्वेत ( Monism ) का विवाद जी चला आता है सर्वधा निरर्धक है; क्योंकि न्याय-वैशेपिक मतवाले जीव के कुछ चौर जलगा मानते हें और वेदान्ती कुछ घौर। जीव और ईश्वर एक नहीं हो सकते, न जिड़ शरीर अथवा सुरुम शरीर और ब्रह्म एक हो सकते हैं। आतमा चौर ब्रह्म एक हो सकते हैं।

यदि जीव और आतमा के एकसे लक्षण माने जाँच और जीव-ईश्वर अथवा आत्मा ब्रह्म को एकही वताया जाय, तो विवाद हो सकता है। जब न्याय-वैशेषिक जीव को खुख, दुःख, इच्छा-द्वेपादि का विषय मानते हैं और वेदान्ती जीव श्रथवा आत्मा को इन सब दोपों से रहित मानते हैं, तो पेसी अवस्था में विवाद होना सम्भव नहीं है। जो जोग पेसा विवाद करते हैं उन्हें जीव श्रीर श्रात्मा के लक्षण नहीं मालूम हैं।
यदि यह परिभाषा जानने पर भी कलह करते रहे हैं, तो केवल पत्तपात
श्रीर वितण्डा ही है। सिद्धान्त सममने पर तो न्याय-वैशेषिक मतानुयायी यह कह सकते हैं कि जीव श्रीर ईश्वर पृथक् २ हैं; परन्तु श्रात्मा
श्रीर ब्रह्म एक ही हैं और एकही हो सकते हैं। वेदान्ती यह कह सकते हैं
कि स्क्ष्म शरीर जो न्ययायिकों के जीव के बरायर है, ब्रह्म से पृथक् है
श्रीर पृथक् ही हो सकता है, श्रीर इसी तरह न्ययायिकों का जीव और
ईश्वर पृथक् २ हो सकते हैं। परन्तु श्रात्मा श्रीर ब्रह्म जिन के लक्षण
न्ययायिकों के जीव और ईश्वर से सर्वेश भिन्न हैं, कदापि दो नहीं हो
सकते। वे होनों एक ही हैं श्रीर एकही हो सकते हैं।



# वेदान्तदर्शन

वेदोंका झानकाराड, उपनिपद्रूपमें है । इन आनिवचारों की वेदान्त कहते हैं। इनको व्यासजी ने स्त्रवाद्ध किया है। ये सूत्र वेदान्त सूत्र अथवा वादरायण सूत्रों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सूत्रों पर कई विद्धानों ने भाष्य किप हैं; जैसे श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य माध्याचार्यीहै। इनमें से शांकर भाष्य श्राति प्रसिद्ध है। वेदान्त का सारांश निम्न लिखित एक ऋतेक में है:-

रलोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्य कीटिभि:। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवा ब्रह्मैव नापरः॥

श्रध्यं जो कीटि अन्धों से कहा गया है वह में आधे खोक में ही कहताहं, और वह यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिश्या है, ध्रीर जीव ब्रह्म से श्रवग नहीं है । जैसे प्रकाश के साथ अन्ध्रकार मिला है वैसे ही ज्ञान से अज्ञान मिलाहे । यह अज्ञान जिसे अविद्या अथवा माया कहते हैं, संसार का कारण है । वेदान्तदर्शन का मुख्योहेश जीव की अविद्या दूर करना है।

#### ब्रह्म

ब्रह्म, निरन्तर, सत्य, अन्यय, श्राखण्ड, सर्वद्यापी, समस्त चराचर सृष्टि का एक मृत्याधार तत्त्व हैं । अपने श्रन्थक रूपमें सव गुणों से वर्जित है, और इसके निषय में "नैतिनैति" के सिवा और कुछ नहीं कष्ट सकते हैं । सिव्यानन्द निशेषण भी इस श्रन्थक ब्रह्म के सगुण स्नारूप का ही सूचक है । वास्तव में ब्रह्म अन्यक्त श्रीर निर्गुण ही है; परन्तु ज्यावह्मारिक दृष्टि से इसका ज्यक्त श्रीर सगुण रूप भी मानते हैं । वेद श्रीर उपनिषदों में दोनों क्यों का निवरण है ।

#### अञ्चल ब्रह्म ।

षशब्दमस्पर्धमरूपमन्ययं तथा ऽरसाद्मित्यसगन्ध वचयत्। ष्यनायनन्तम् महतः परन्धुवं निचाय्य-तन्सृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ (कडोपनिषत्)

भाषार्थ-( ब्रह्म ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, यन्ध रहित है, धौर उसका त्त्रय भी नहीं होता है- इसीसे नित्य है और ध्रनादि अनन्त है-प्रकृति से परे है अर्थात् शुद्ध ब्रह्मत्व और ध्रानन्द रस रूप है और सदैव स्थित है; मनुष्य पेसी आत्मा की जान कर मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

सहोवाचैतद्वैतद्वरं गार्गि ब्राह्मणा श्रमिवदःत्य स्यूजमनएव द्रखमदीं र्घमले। हितसस्ने इसच्छायमत-मे। ऽवाय्वानाकाश्यमसङ्गमसमगन्धमच जुष्कमश्रीच मवार्गमने। ऽतिजस्कमप्राणममुखमाचमनन्तर वाद्यं न तदशाति किञ्चनन तदशाति कञ्चन॥ (ब्राह्मणोपनिषद्)

भाषार्थ नह (याइवल्क्य) बोले, हे गागि ! ब्राह्मण इसको अज्ञर अर्थात् अवनाशी कहते हैं, वह न स्थूल हैं, न स्ट्महैं, न लस्वा है, न चौड़ाहै,न लालहैं,न चिकनाहै,न छाया है,न अंधेराहैं,न वायुंहैं, न आका-सहै, न संगी हैं, न रस हैं, न गंधेहैं,न नेज हैं, न कान हैं,न वाणा हैं, न मन हैं, म तेज हैं,न प्राणाहें,न मुखमा जहें, न भीतरहैं, न बाहरहैं,न के हि वस्तु खाता हैं, न कोई उसको खा सकता है। यत्तद्दश्यमग्राह्ममगोत्रमवर्णमचनुःश्रीत्रं तदपाणि पादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसृक्ष्मं तदव्ययं तद् भृत योनिं परिपरयन्ति घीराः। (मुग्डकोपनिपत् )

भावार्थ – वह दिखाई नहीं देता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई जन्मगोत्र है, न ग्रुक्कादि वर्ण है, न उसके नेत्र हैं, न कान, न हाथ, न पैर, वह नित्यहै, ज्यापी है, सर्वत्र वर्तमान है, स्कृत से स्कृत है, उसका नाश नहीं है। घीमान मनुष्य उसको सब भूतों का आदि कारण जानते हैं।

#### व्यक्तब्रह्म ।

एक्तावशी सर्वभृतान्तरात्मा एकं रूपम् बहुधा यः कराति । तमात्मस्ययेऽनुपश्यन्ति धौरास्त्रेषां सुखं शास्त्रतन्नेतरेषाम् ॥ (कठाप॰ )

भावार्थ-अद्वितीय, सर्व जगत को अपने आधीन मे रखनेवाला, सम्पूर्ण प्राणी मात्रमें स्थित अर्थात् परमात्मा एक ग्रुद्धचित्तं स्वरूप को अनेक प्रकार का करता है; इस प्रकार जो पुरुष उसको आभास रूप से हद्य में स्थित जानते हैं, उन पुरुषों ही को अनन्त खुख मिलता है।

तदेनत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकादित्सु लिङ्गाः सहस्रशः
प्रभवन्ते सह्तपाः तथाऽ चारादिविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तचचैवापियन्ति ॥ (सुरहकोप.)

भाषार्थ-यह ही सत्य स्वरूप है। जैसे जलती हुई श्राग्निसे एक रूप के सहस्रों स्फुलिङ्ग निकलते हैं, हेसीम्य! वैसेही उस विना नाश-वान ( ब्रह्म ) से श्रानेक प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में लैटकर लीन होजाते हैं।

श्विनिर्मूर्दा चन्नुषी चन्द्रसूर्व्या दिशः श्रोते वान्ति-दृताश्ववदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्या पृथिवी होष सर्व्वभूतान्तारात्मा ॥ (मुण्डकोप.)

भोषार्थ-जिसका सिर श्राग्नेहै, जिसकेनेत्र चन्द्र सूर्य हैं, जिसकी वाणी वेद है, जिसके कान दिशाएं हैं, जिसका प्राग्य वार्यु है, जिसका हृदय संसार है, जिसके चरगों से पृथ्वी है। वह ही सब जीवों के भीतर रहने वाला श्रात्मा है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्रचः सहस्रपात् सभूमिं विश्वता हत्वात्यतिष्टिद्दशांगुलम् ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषवः)

भाषार्थ-इस पुरुष के इजारों सिर, इज़ारों पेर हैं। सब भूमि में व्यापक होकर दस अंगुल ऊपर इदय में ठहरा हुआ है।

स एव कालि भुवनस्यगिप्ता विद्धाधिपः सर्वभूतेषुगूढः। यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्पयोदेवताश्च तमेवं ज्ञात्वा स्त्यु पाशांश्किनत्ति॥ (श्वेताश्वतरोपः) . भाषार्थ-जो उचित समय में संसार की रहा करनेवाता है। जो सब जीवां में छिपा हुआ संसार का छाविपति है, जिसमें ब्रह्मऋषि छोर देवता ज्यान युक्त हैं-एसे ब्रह्म को जानकर मृत्यु के फन्दे को ( मनुष्य ) काट डाळता है।

सविष्वक्षिविष्वविदात्मयानिर्द्धः कालकाली गुणी सर्वविद्यः। प्रधानचेत्रज्ञ पतिगुणिषः ससंसार मीच स्थितिवन्धहेतुः॥ (श्वेताश्वतरापः)

भाषार्थ- वह विश्व का कर्ता है, विश्व का जानने वाला है, जीवात्मा के कारण का जानने वाला, कालका अधिपति गुण संयुक्तहै, सब जानने वालाहै। प्रकृति और चेतन का स्वामी है। गुणोंका ईशहै। ओच स्थिति और वन्ध इन सबका हेतु है।

यह ब्रह्म, ब्राव्हि, मन, इन्द्रियां, सबसे परे है ध्यौर तक अथवा बुद्धि चातुर्य से धलभ्यहे; जैसे कहा है:—

नायमात्मा प्रवचनेन सभ्या नमेधया नबहुना श्रुतेन। यसेवेष वस्तुते तेन सभ्यस्तस्यैष चात्मा विवस्तुतितन् स्वाम् ॥ ( चठाप- )

आषार्थ-यह श्रातमा न वेदाध्ययन से, न बुद्धिसे, न श्रानेक शास्त्रों के पढ़ने से प्राप्त होती है। जिस पर वह कृपा करती है-उसी को प्राप्त होती है।

#### अात्मा।

जीव प्रथमा आत्मा वास्तव में ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्म के सिवा क्रोर कोई वास्तविक सत्यवस्तु नहीं है। जब ग्रात्मा ब्रह्म ही है, तो निश्चय एक ही है-श्रनेक नहीं हैं। जो ब्रह्मके छत्त्रण हैं, वे ही श्रात्माके जत्तण हैं। जो भिन्नता दिखाई हेती है, उस का कारण श्रिवद्या है अध्यारोप नियम से श्रात्मा में जगत् वन जाता है और श्राप्वाद नियम से जगत् दूर होकर केवळ नित्य शुद्ध आत्मा ही रह जाती है। श्रात्मा प्रहा का दुसरा नाम है; इसिजिये जो कुक है वह ब्रह्म ही है।

# श्रविद्या (माया)

पेसी वस्तु जो सत्है,न ग्रसत्है, वहिक ग्रानिर्वचनीय है, और जिस में सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुण हैं और जो ज्ञान की विरोधी है और केवल भान कप ही है, वही माया है।

जबतक ये तीनों गुण एकसे रहते हैं श्रर्थात् साम्यावस्थामें होते हैं, तो जगत भी नहीं होता है। जब तमोगुण की अधिकता होती है, तो इस में तोम होता है, श्रीर इसका परिणाम जगतोत्पत्ति है।

भाया में दो शक्तियां हैं :---

१—धावरण इक्ति

२—विक्षेप शक्ति

आवरण शक्ति से वस्तु का यथार्थ कप दक जाता है भौर वित्तेष शक्ति से मिथ्या कल्पना हो जाती है। वादल का दुकड़ा सुर्य के सामने भानेले सुर्यको हिएले छिया लेता है; इसी तरह भावरण शक्तिकेद्वारा भारमा नहीं दिखाई देतीहै। अंधेरेमें सुखे वृक्तको देखकर भूतकी कल्पना हो जाती है। इसी तरह वित्तेष शक्ति से आत्मा पर मिथ्या जगत् की कल्पना होती है।

कोई मतुष्य अंधेरेंम एक कोठेंमें गया। वद्दां एक रस्ती का टुकड़ा पड़ा था। उसे देखकर वह उर गया और उसे सर्प जाना। वाद्दर आकर एक दीपक लिया और फिर कोठेंमें प्रवेश किया, तो प्रकाश से श्रात हुमा कि वद्द रस्ती का दुकड़ा है-सर्प नहीं। इस उदाहरणमें रस्सीका असली रूप दिखाई नहीं देना, एक वात है। रस्सीपर सर्पकी कल्पना होना, दूसरी वात है। प्रकाशने रस्सीका असली रूप बात होना, तीसरी वात है।

 पद्वतीका कारण श्राचरण शकि है । दृखरीका कारण विक्षेप शक्ति और तीसरीका, वेदान्त शास्त्रका झान ।

इसी प्रकार समस्तना चाहिय कि माया अपनी इन दो शक्तियाँद्वारा ध्यात्माको छिपाकर, उसपर जगत्की कल्पना कर देती है। इसिलए जगत् चास्तवमें सत्य नहीं है; परन्तु वह व्यावहारिक सत्ता रखता है।

भ्रव यह लिखते हैं कि जगत्की उत्पत्ति किस वकार माया से होती है। पहले मायाका कारण, शरीर है, अर्थात् जितनी माया है वह सब ब्रह्म के कुठ भागसे मिली है जिसमें सत्वगुण प्रधान है।

यह शारीर संसारभरकी वस्तुर्श्रोका भांडार है। इस माया पुञ्जके साथ जो ब्रह्मका भाग मिला है, वह ईश्वर कहलाता है। यह ईश्वर सर्वेद्य सर्वेशिकमान् श्रीर सदका नियन्ता है।

इस शरीरमें सत्वगुगा प्रधान है;इसिलिए यह शानन्दसे परिपूर्ण है । इसे श्रानन्दमय कोए भी कहते हैं।

इसकी अवस्था सुपुति, अर्थात् स्पप्तरित निद्रा आनन्दकी है। स्थूल घारे सुक्ष्म दारीरीका, जिनका आंग वर्णन होगा, यह लयस्थान है, अर्थात् कारण शरीर इनके परे है।

यह जगत् भरका कारण शरीर हुआ। इसी तरह प्रत्येक मंतुष्य का कारण शरीर समम्मना चाहिय। इस कारण शरीरका चैतन्य, जो ईश्वर का एक भाग है, प्रान्न कहलाता है, स्रोर मायाकी मिलन उपाधियों के कारण स्नरणन्न और स्नीश्वर है।

इसी शरीर के कारण श्रापनेपनकी कल्पना होती है। जैसे समस्त जगत्का कारणशरीर स्नानन्दमयकोष कहलाता है, वैसे ही यह भी कञ्चढ़ाता है। इस की श्रवस्था भी सुपुति है और जीवके सुहम और स्थूत दारीरों का लयस्थान है।

समस्त जगत्का कारणशरीर और एक व्यक्तिका कारणशरीर अलग अलग नहीं हैं, किन्तु एक ही हैं। यह केवल दृष्टि का ही अन्तर हैं। वन और वृत्त पृथक् पृथक् नहीं हैं। जलाशय और जल पृथक् पृथक् नहीं हैं। जलाशय और जल पृथक् पृथक् नहीं हैं। जब वृत्तींको पृथक् पृथक् देखते हैं, तो वे वृक्ष हैं, और जब समूह रूपसे तो वन है।

इसी तरह जलाशय और जलके उदाहरण को समझिये। सब जीवों को एकत्र कर देखना, समिष्ट है, और उन्हीं जीवों को पृथक् पृथक् कर देखना, व्यस्त्रि है।

वृत्तों के समुहको वन कहना, समिष्ट रीतिसे है और वनके अलग अलग अंशोंको वृक्ष कहना, व्यप्ति रीति है। इस तरह जब सब माया पुंजका ब्रह्म चैतन्यसे मिला हुआ एकत्र देखते हैं, तो समिष्टि है, और जब प्रत्येक शरीरको पृथक् पृथक् देखते हैं, तो व्यप्ति है। ईश्वर और प्राझ एकही हैं। ईश्वर समिष्टिक्पसे है, और प्राझ व्यप्ति क्रपसे।

जैसे वन और वृत्तीमें सव ग्राकाश नहीं स्वय हो जाताहै, किन्तु वाहर भी वहुत कुछ वच रहता है; इसी तरह सव मायापुंत्रमें सव ब्रह्म नहीं ग्रा जाताहै, यहुत कुछ वाहरभी रह जाताहै। ब्रह्मका केवल एक अंश ही मायासे मिला है। जो ग्रवशिष्ट ब्रह्म रहा, उसकी अवस्था तुरीय या तुर्य है।

जगत्की उत्पात्त ब्रह्मसे इसीतरह है जैसे मकड़ी के जालेकी उत्पत्ति मकड़ी है। मकड़ी, जाले के निमित्त और उपादन, दोनों कारण है। तन्तुको बनाती हुई निमित्त कारण है और तन्तुकोंका उसके शरीरसे पैदा होना, उपादान कारण है। ऐसे ही आवरण और वितेष शिक्तियांद्वारा अज्ञान-युक्त नैतन्य अपनी प्रधानतासे जगत्का निमित्त कारण है, और अपनी उपाधियोंकी प्रधानतासे उसका उपादन कारणहै।

# , उत्पत्तिक्रम

तमोगुणप्रधानविक्षेपशाक्तिवालेख्यशानयुक्तैचतन्यसे आकाश उत्पन्न हुआ, ग्राकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, ग्राग्निसे जल और जलसे पृथिवी।

संसारमें जड़ताकी प्रधानता दिखाई देनेसे ज्ञात होता है कि इसमें तमागुणकी आधिकता है। ये पांची स्थूल तत्त्व हैं और इनसे सूक्ष्म शरीर बना है।

सूक्ष्म दारीरके १७ द्यावयव हैं, अर्थात् ५ छ।नेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ वासु, मन द्योर दुद्धि ।

भन्तः करणकी वृत्ति जो निश्चय करती है, बुद्धि है। ग्रन्तः करणकी वृत्ति जिसमें संकल्प विकल्प होते हें, मन है। भन्तः करण अनुसंधान और ग्रमिमान युक्त है।

सूक्ष्म शरीरमें तिन कोप हैं—(१) विद्यानमय कोप,(२) मनोमय कोप होर (३) प्राणमय कोप।

बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियां मिळकर विज्ञानमय कीप है। मन और कर्मेन्द्रियां मिलकर मनामय कीप है। पंच प्राण भ्रीर कर्मेन्द्रियां मिलकर प्राण्मय कीप है।

विद्यानमय कोप अपनेको कर्ता मानकर श्रीर सुख दुः खका भोका समस्कर, इसलोक श्रीर परलोक में आता जाता रहता है; बही जीवहै। इन तीनों को पाँमें विद्यानमय कोष, ज्ञान-श्राक्तिमान् होनेस कर्ता है, मनोमय कोष, इन्ह्य-श्रक्तिमान् होनेसे कारण रूप है श्रीर प्राण्मय कोष, किया श्रक्तिमान् होनेसे कार्यरूप है।

्रन तीनों कोषोंसे संयुक्त सुक्ष्म शरीर खावागमनमें साथ रहता है।

इन शरीरों के चैतन्य को समिष्टिकप से सुत्रात्मा कहते हैं। इसे हिरायगर्भ अथवा प्राण भी कहते हैं; क्योंकि वह सब स्हम शरीरों में प्रविष्ट हैं और तीनों कोपोंम, जिनसे झन, इन्क्रा ग्रीर किया हो सकती हैं, विद्यमान है। इसकी अवस्था स्वप्न है।

इसी चैतन्यको ब्याप्टिस्पसे देखा जाय तो तेजस है। सूत्रात्मा ध्यौर तेजस मन-विकारों के सुक्ष्म विषयोंका अनुसव कर सकते हैं।

जैसे वन भ्रोर वृत्तों में मेद नहीं है, वैसेही सुत्रात्मा भीर वेजस में मेद नहीं है।

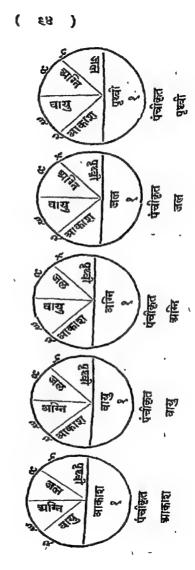
स्थूल शरीर ।

सुश्म तत्त्व वे हैं जो पांची सुश्म तत्त्वींके मेलले वने हैं। इन पांचींके मिलाने को पंचीकरण कहते हैं।

पंचीकरण समभने को नीचे लिखा उदारहणं देखिये।

8

# उदाहरमा।



प्रत्येक तत्त्वका श्रार्ट्ध भाग लो श्रीर वाकी के श्रार्ट्ध भागकी जगह अविशिष्ठ चारों तत्त्वीं के श्रार्ट्ध भागों के चौथाई चौथाई भाग मिलाओ, तो एक तत्त्वमें पांचीं तत्त्व भिल जायँगे। दूसरे शब्दों में यह कहना है कि पंचीकृत तत्त्वों में से प्रत्येक तत्त्व में र्र्ड श्रापना तत्त्व है श्रीर ट्रेप्रत्येक वाकी के चार तत्त्वों का।

जैसे पैचीकृतं आकाश तस्य में ई ग्राकाशतस्य, ई बायु, ई अग्नि, ई जल ंग्रीर ई पृथिवी तस्य हैं।

इन पंचीकृत तत्त्वोंसे सब जोक और सब स्थूज शरीर्र उत्पन्न हुए हैं। जो खाने ध्रौर पीने की वस्तुपं हैं, वेभी इन्हीं से निर्मित हैं।

# स्थूल शरीर चार प्रकार के हैं।

ं १. जरायुज-जो गर्भसे उत्पन्नहों; जैसे मदुष्य परा प्रादि ।

२. घण्डज-जां श्रहेले उत्पन्न हों; डैले पक्षी सर्पादि।

३. स्वेदज-जो पसीने से उत्पन्न हों; जैसे जूं, मञ्जूंड ग्राहि।

४. उद्धिज-ओ पृथिवी को फोड़कर उत्पन्नहों; जैसे लता बुझादि ।
 इन सब स्थूल श्रारीरों को भी समिष्ट और व्यप्टि दृष्टि से देखिए।

जो चेतन्य, सव स्थूल शरीरोंसे मिला है, वेश्वानर अथवा विराद कहताता है। यह शरीर अन्नमवकोष है और इसकी अवस्था जागृत है।

जो चतन्य, प्रत्येक व्यक्ति शरीर से मिला है, विश्व कहलाता है। इसे भी धन्नमय कोष कहते हैं और इसकी भी अवस्था जार्ग्त है।

विराट धौर विश्व, सूक्ष्म शरीरों के द्वारा सब स्थूल पदार्थी का अनुमव कर सकते हैं।

#### सारांश।

ब्रह्मका भाग जो समस्त माया अर्थात् श्रक्षानसे मिला है और जिसके कार्ण संसारकी इत्पत्ति हैं; तीन शरीरों में विभक्त हैं, अर्थात्:- नारण शरीर—इसमें समस्त माया पुञ्ज शामिल है। जो चैतन्य इसमें मिला है, उसे समिट दृष्टिस ईश्वर छौर व्यप्टि दृष्टिस प्राप्त कहते हैं। इस शरीर को ग्रानन्दमयकोप भी कहते हैं, श्रीर इसकी ग्रवस्था सुपुति है।

सृक्ष्म भ्रारीर यह शरीर युद्ध स्क्ष्म अपंचीकृत तत्त्वोंका बना है ध्यार १७ ध्रवयव रखता है; अर्थात् ५ ज्ञानिन्द्रयां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ वायु, भन और वुद्धि। जो चैतन्य इसमें मिला है, उसे समष्टि इष्टिसे हिरण्य गर्भ अथवा स्वात्मा अध्या प्राण् कहते हैं और व्यष्टि इष्टिसे तेजस। इसमें विक्षानमय, मनोमय और प्राण्मय तीन कोष हैं। इस की अवस्था स्थन है।

स्थूल श्रादीर-यह शरीर पंचीकृत तस्वोंका बना है। इसके वैतन्य की समिष्ठ दृष्टिले वैश्वानर और व्यप्टि दृष्टिले विश्व कहते हैं। इस शरीरको छन्नमय कोप भी कहते हैं। इसकी अवस्था जागृत है।

चौथी ध्यवस्था वह है जिसमें ग्रुद्ध मायारहित ब्रह्म है। उसे तुर्य अथवा तुरीय ध्रवस्था कहेते हैं।

# . ऋध्यारोप ऋौर ऋपवाद ।

प्रध्यारोप सम्बद्धानम्द ब्रह्म वस्तुमें माया पुञ्ज ध्यवस्तु का आरोप करना, अध्यारोप है।

उदाहरण—किसी रस्तिके दुकड़ेको श्रेधेरेमें सर्प समझना, अर्थात् रस्तिके वास्तिविक रूपको नहीं जानकर उसमें सर्पकी मिथ्या कल्पना करना; इसी तरह शुद्ध साचिदानन्द अहामें संसारकी कल्पना करना, अध्यारोप है।

सपवाद-अध्यारोप के विपरीत, अर्थात् असत्यको हटाकर सत्य वस्तुका झान प्राप्त करना, अपवाद है। इस नियमले यह झान प्राप्त होता है, कि संसार असत्य है-केवल ब्रह्मही सत्य है। संसार, सत्य वस्तु ब्रह्म का विकार नहीं, किन्तु विवर्त है, जो देखने मात्रको ही है-वास्तवमें कुछ नहीं है।

अध्यारोपसे संसारकी उत्पत्ति आदिका ज्ञान प्राप्त होता है श्रौर अपवाद से ब्रह्म का।

पहेल ही कह आये हैं कि ब्रह्मसे मिली हुई त्रिगुणातिमक मायासे संसार उत्पन्न हुआ है। पहले आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायु से अग्नि, अग्निसे जल, और जलसे पृथिवी। इसी तरह और कम है।

यह अध्यारोप नियम है, अयात् ब्रह्ममें अवस्तु आरोप करना है।

इसके विपरीत समस्ता कि पृथिवी, जलसे उत्पन्न हुई, जल अग्निसे हुद्या, अग्नि वायुसे हुई, वायु श्राकाशसे हुद्या और आकाश मायासे ।उत्पन्न हुद्या, और माया श्रसत्य है-केवल ब्रह्मही ब्रह्म है। यह अपवाद है।

श्राचारोपको Synthetical method श्रीर अपवाद को Analytical method कह सकते हैं।

# अविद्याञ्जम दूर करनेके उपाय।

लिख ग्राय हैं कि आत्मा ब्रह्मही है, ग्रान्य नहीं; इसालिए उसमें कोई होप नहीं है। अविद्याकी उत्पन्नकी हुई उपाधियों से उसका वास्तविक स्वस्प किया हुआ है। यदि उपाधियों हट जायं, तो शुद्ध सचिदानन्द ब्रह्म रहजाय। इन उपाधियों के हटानेका नाम ही आत्मश्रद्धि है, जिसके ये साधन हैं:—

र् श्रवण २ मनन ३ निद्धियासन ४ समाधि

#### श्रवण ।

छः साधनों द्वारा सन्न ,वेदान्तवाक्यों का तात्पर्थ अद्वितीय ब्रह्मभें समभनां, अवग्र है । छः साधन ये हैं:-

१ उपक्रमोपसंद्वारी २ अभ्यास ३ अपूर्विता ४ फज ५ छर्घवाद ६ उपरित्त ।

१. उपक्रमोपसंदारोका अर्थ प्रकरणका आरंभ और अंत है। जो विषय किली पुस्तक में प्रतिपादित होता है, उसका वर्णन प्रकरण के आरंभ और अंतमें होता है; जैसे छान्दोन्य उपनिपत्के छटे प्रपाठके आदि और अंतमें शद्वितीय ब्रह्म वस्तुका इस भांति प्रतिपादन है—"एकोमवा- ब्रितीयम्" "पेतदास्मिन्दे सर्वम्"।

२. अभ्यास-जिल वस्तुका प्रतिपादन प्रकरण्में है, उसका बार बार प्रतिपादन उस प्रकरणके मध्यमें होना; जैसे उसी छान्दोग्य उपनिपत प्रपाठमें "तस्त्रमसि" वाक्य नी दक्का आया है।

३. अपूर्वता-प्रकरणमें जिस वस्तुका प्रतिपादन है वह किसी तरह इन्द्रियोंका विषय नहीं है; जैसा कि छान्द्रेश्य उपनिषत् के उसी प्रपाठ में सिद्ध किया है।

थः फल्ल-प्रकरसमें जो आत्मशान वा उसका अनुष्टान प्रतिपादित हो, उसीका शान प्राप्त करने का प्रयोजन । उदाहरसके लिए छान्दोन्य उपनिपत्का छटा प्रपाठ देखिये।

भू अर्थवाद-प्रकरण में जिस निषय का प्रतिपादन हो उस की प्रशंसा स्थान स्थान पर करना। छान्दोग्य उपनिषत् का क्रुटा प्रपाठ देखो।

६ उपप्रित्त-प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय के अर्धसाधन में युक्तियों का वार २ कहना; जैसे उसी प्रपाठमें मृत्िपडसे समस्त मृन्मय वस्तुयों का ज्ञान बताना।

#### मनन ।

जिस श्रद्धितीय ब्रह्म वस्तु का श्रवण किया है, उस का निरन्तर विन्तन वेदान्त श्रर्थानुसार करना, मनन है।

#### निदिध्यासन।

विजातीय देहादि वस्तुओं को छोड़ कर श्रद्धितीय ब्रह्म सम्बन्धिनी घस्तुओं के प्रत्यय प्रवाह का नाम निद्धियासन है।

#### समाधि।

समाधि हो प्रकार की है-१ सविकत्प और २ निर्विकत्प । सविकत्प समाधि-जिस में ज्ञाता और ज्ञानादि के विकत्पत्य की अनपेत्ता हो और प्राद्वितीय ब्रह्म के स्नाकार की स्नाकारता हो। उस चित्तवृत्तिक स्रवस्थानका नाम सविकत्प समाधि है।

इस समाधिमें चित्तकी वृत्ति को ब्रह्म में लयकर देना है और इस का कुछ विचार नहीं रखना है कि बाता और बान में भेद है या नहीं; जैसे मिट्टीसे बनेहुए हाथी झादिका बान भी हो; परन्तु सब मिट्टी ही दिखाई दे! इसी तरह चाहे हैत भी भान होता हो; परन्तु सब झिद्दीय ब्रह्म ही दिखाई दे, वह सविंकल्प समाधि है।

निर्विकरंप समाधि—वृद्धिकी वृत्तिका द्याद्वितीय ब्रह्ममें उसी का आकार वनकर एक भावसे अवस्थान होना निर्विकरंप समाधि है। इस में झाता झानादि के भेद की कोई अपेद्या नहीं रहती है; जैसे लवण पानी में मिलकर पानीका रूप ही हो जाता है और पानी ही पानी दिखाई देता है; इसी तरह ब्रह्ममें चितवृत्ति कीन हो जानेसे ब्रह्म के सिवा और कुळ नहीं दिखाई देता है। इस अवस्था और सुपुति अवस्था में यह भेद है कि सुपुति अवस्था में नहीं। दोनों में चितवृत्तिका भान नहीं होता है—केवल चित्तवृत्ति रहने और नहीं रहनेका ही भेद है:—

निर्विकलप समाप्रि के आठ ग्रङ्ग भौर हैं :—

१ यम २ नियम ३ श्रासन ४ प्रागायाम ४ प्रत्याद्वार ६ घारणा ७ भ्यान = समाघि।

#### यम।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अर्थात् चोरी नहीं करनाः), ब्रहाचर्यं ष्पौर परिष्रह (दानादि नहीं केना ); ये पांच यम हैं।

#### नियम।

शौच ( शुद्धि रखना ) संतोष, तप, स्वाध्याय ( जप ) और ईश्वर पूजन ; ये पांच नियम हैं।

#### चासन।

आसन अनेक हैं; जैसे पद्मासन, स्वस्तिकासन, ग्रद्धांसन ग्रादि। ग्रागायाम।

रेखक, पूरक, कुम्भक प्राग्तित्रह के उपाय हैं।

#### प्रत्याद्वार्।

इन्द्रियोंको प्रापने अपने विषय में विचरने से अलग करना, प्रत्या हार है।

#### धारणा ।

भाइतीय ब्रह्ममें इन्द्रियोंका लगाना, घारणा है।

#### समाधि ।

सविकत्य समाधि का पहले विवरण हो चुका है। निर्विकत्य समाधि में चार चींज़ विष्न डालनेवाली हैं; प्राणीत् लय, विक्षेप, कपाय भौर रसास्वाद।

ग्रखगड ब्रह्ममें चित्तवृत्तिके नधीं लगनेसे निदा ध्राना, लय है। ग्राखण्ड ब्रह्ममें चित्तवृत्तिका नहीं लगना, किन्तु ग्रौर किसी चीजमें लग जाना, विश्लेष है।

जय वित्तेप भी नहीं हो, तथापि वित्तवृत्ति का रागादि वासनाश्रों से अखरड ब्रह्मपर नहीं क्षगना, कषाय है। अखण्ड ब्रह्ममें चित्तवृत्ति नहीं लगनेसे सविकरण आनन्दका स्वाद ग्राना,श्रयवा समाधिके भ्रारम्भ में सविकरण आनन्द का स्वाद भ्राना-रसास्वाद है।

जब इन विघ्नोंसे वचकर चित्त निर्वात दीपके समान अचल होकर घाखंड चैतन्यमात्र उद्वरता है, तब निर्विकलप समाधि होती है।

#### जीवनमुक्त

जो मनुष्य इसी देहमें अज्ञानसे वने हुये कमें संशयादि को होड़कर बन्धनरिंदत होकर अखंड ब्रह्ममें ही तत्पर होजाताहै और अखंड ब्रह्म धौर अपनेमें कुछ भेद नहीं समस्तता है; क्योंकि अखंड ब्रह्मको अपनी आत्मामें साज्ञात् कर लेताहै, वह जीवनमुक्त है।

भिद्यते हृदयग्रन्थि शिक्यन्ते सई संशयाः। चौयन्ते चास्य कर्म्भीणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

उस परव्रहाके देखेनपर हद्यकी गांठ टूट जाती है, सब संशय जाते रहते हैं और सब कम्म जीया हो जाते हैं।



# उपनिषत्

चारों वेदों के दो भाग हैं, कर्म काग्रह छोर क्षान काण्ड। कर्म काण्ड का विषय वेदों के ब्राह्मणों में सम्यक् प्रकार वार्णत है छोर इन्हों के ध्राधारपर जिमिनिस्त्र, जिने पूर्व मीमांसा कहते हैं, किखेगये हैं। ब्रानका विषय उपनिषदों में बताया गयाहै, और इन्हों के आधारपर व्यासजीने बेदान्त सूत्र रचे हैं। भगवद्गीता में कर्म काण्ड छोर ब्रानकाण्ड-दोनें। का निर्देश है- ज्ञान काण्डका घ्रधिकतर। गीता में ब्रानका विषय उपनिषदों से ही कियागया है; क्योंकि गीता के बहुत से श्लोक प्रक्तरशः उपनि-पदों में मिलते हैं।

उपनिपदों की संख्या बहुतहै। ११६ उपनिपत् छपे हुये भी मिलतेहैं; परन्तु इनमें ले मुख्य छोर प्राचीन उपनिपत् बारह ही हैं, अर्थात् बृहदा-रण्यापनिपत् छान्दोग्योपनिपत् ईशोपनिपत्-कठोपनिपत्-केनोपनिपत्-प्रश्नोपनिपत्माण्ड्रक्योपनिपत्-मुग्डकोपनिपत्-वेताश्वतापनिपत्-तैत्तिशैन् योपनिपत्- ऐतरेयोपनिपत् छोर कौपीतक्योपनिपत्। आत्मा क्या है ? परमात्माक्या है? इन दोनों का क्या सम्बन्ध है ? संसार क्याहै और कैसे रचागया छोर संसार दुःख से कैसे निवृति हो सकतीहै ? ये सब प्रश्न, इन उपनिपदों में ठठे हैं, छोर इनके उत्तर बड़ी विद्यित्ता झोर गम्मीर गवेशया से दिये हैं। गीतामें भी ज्ञानसम्बन्धी विचार इन्हीं उपनिषदों के आधारपर हैं।



# सांख्यदुर्शन।

सांख्यदर्शन के सिद्धान्त बड़े प्राचीन हैं और उपनिपदों में भी पाये जाते हैं; परन्तु इनको सुत्र बद्ध कर शास्त्र के रूप में धरना कपिल मुनि हो का काम है।

सांख्यशास्त्र का उद्देश तीनों प्रकार के दुःखों से छूटकर मोत्त प्राप्त करना है। इस प्राप्ति का साधन सांख्य के २५ तस्वीं का पूर्ण ज्ञानप्राप्त न्दरना है। ये तस्व इस भांति है:—

१ ग्राड्यक्त

२ बुद्धि

३ ग्रहंकार

४--- पांच तन्मात्राएं

६-१४ पांच ज्ञानिन्द्रयां

१५-१८ पांच कर्मेन्द्रियां

१६ं मन

२०–२४ · पांच महाभूत

२४ पुरुप

इनमें से पद्धते प्रशासिक तस्य कहताते हैं, श्रीर पिछले १६, विकार !

अञ्चल इसे प्रधान-असर-प्रकृति-प्रस्ता आदि भी कहते हैं। अन्यक्त का अर्थ है जो विकासित नहीं हुआ है।

प्रकृति की वह दशा, जो संसारोत्पत्ति के पूर्व थी, अन्यक थी, अथीत प्रकृति का विकास नहीं हुआ था-अन्यक दशा में प्रकृति अनादि अनन्त है, और यह किसी से उत्पन्न नहीं हुई है; परन्तु उत्पन्न करने की शक्ति रखती है। यह शक्ति सत्त्व-रज-तम तीन गुणों से संयुक्त है, जो उसमें सदैव विद्यमान हैं। जब तीनों साम्यावस्था में रहते हैं, तो संसार नहीं होता है;

परन्तु जब इनमें एक भी अधिक या न्यून होताहै, तो संसारोत्पत्ति होने जगतीहै। संसार की सभी वस्तुओं में तीनों गुण न्यास हैं। प्रकृति से पहले बुद्धिं उत्पन्न होती है।

बुद्धि-इसके दूसरे नाम हैं-महत्-प्रद्धा-माति-धी। वुद्धि का धर्म-निश्चय करना है। इसके द्वारा निश्चय होता है कि यह मनुष्य है या पशु या वृत्तादि। बुद्धि से श्रहंकार उत्पन्न होता है।

श्वहंकार-जिस से धपनापन प्रकट हैं। जैसे में सुनता हूं, में जाता हूं इत्यादि। अहंकार के बिना जीव में स्वपनापन नहीं ध्वाता है। सहं-कार से तन्मात्राएं, ज्ञान धौर कमेंइन्द्रियां भौर मन उत्पन्न हुए हैं। सस्व प्रधान अहंकार से ११ इन्द्रियां भौर तमप्रधान ध्रहंकार से ५ तन्मात्राएं उत्पन्न हुई हैं।

त्रमाचार्य-शब्दःस्पर्शः, रूपः, रसः, गन्ध-१न पांचों के सूदम तत्वों . का नाम तन्मात्रापं है। तन्मात्रात्रों से पंच महाभूत उत्पन्न हुये हैं।

ज्ञानिन्द्रियां-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिन्हा धौर ब्राण क्रोनिट्टयां-हस्त, पद, वागी, गुदा और उपस्थ।

मन्=हानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय-दोनों के लक्षण रखता है, ग्रौर संकरप विकरण इस का धर्म है।

पांच सहासूत-पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, तेज

पुरुष के यह जत्त्रण हैं-अनादि, स्हम, सर्वन्यापी, सात्ती, निर्मुण, अजन्मा, अस्छा, निर्मेल, सब का ज्ञाता, रुष्टा। उस में भादि अन्त, मध्य नहीं है; इस कारण वह अनादि है। उस के सण्ड नहीं हैं, और इन्द्रियों से परे है; इस लिये वह स्हम है। आकाश के समान सर्वत्र स्थापक और असीम है; इसिलिये वह सर्वन्यापी है। सुक दुःस

देखता है; इसिलिये साली है। उसमें सत्त, रज, तम-तीनों गुण नहीं हैं; इसिलिये निर्भुण है। उसका जन्म नहीं हुआ और नहों सकता है; इस लिये अजन्मा है। अकृति के विकारों को देखता है; इस लिये दए। है। साली होने से उस में सुख दुःख का अनुभव कह सकते हैं; इस लिये भोका है। निर्भुण और विरक्त होने से उसे कर्त्ता नहीं कह सकते है। सर्व पदार्थों के गुणों को जानता है; इसिलिये सर्वज्ञ है। विच्छी होने से अस्तु है।

पुरुष एक नहीं अनेक हैं । इसके दूसरे नाम, श्रात्मा, पुमान, तेत्रज्ञ, नर, कवि, ब्रह्मण, अत्तर, प्राण श्रादि हैं ।

# संसारोत्पत्ति च्योर लय कियाएं।

पुरुष के संग में प्रकृति अपने तीनों गुणों की वैपम्यता से छिष्टि उत्पन्न करती है। छिष्टे के विकास का यह नियम है:- अन्यक अथवा प्रकृति से पहुले बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से अहै कार उत्पन्न होता है, अहै कार से तन्मानाएं, क्रानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां और मन उत्पन्न होते हैं। मात्राओं से महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस विकास क्रियों का नाम संक्रम है। इसके विपरीत क्रिया का नाम अतिसंक्रम है। संक्रमिक्रयां को विकासक्रम अथवा परिणामपरिवर्तन भी कह सकते हैं।

#### जीव।

पुरुष के जन्मण ऊपर लिख आये हैं। उनके देखते यह सिद्ध नहीं कि पुरुष कमें के बन्धनों में पड़कर आवागमन करता है। यह सदेव निर्मेछ और स्वतंत्र है। यदि यह वात है तो फिर यह सब कौन भोगता है। सांख्य का उत्तर है कि एक जिङ्क शरीर है, जो १७ वस्तुओं का बना है, अर्थात् बुद्धि, मन, ४ ज्ञानेन्द्रियां, ४ कर्मेन्द्रियां और पांच तन्मात्रायें। इस शरीर के द्वारा ही जीवातमा, फल अथवा मोन्न की इच्छा करती है। यह शरीर स्थूल शरीर के बिना कुछ अनुभव नहीं कर सकता है।

# दु:ख।

ज़ीव को तीन प्रकार के दुःख द्वोते हैं :--

१-वे दुःख् जो शरीर और मन् से हों।

२-वे दुःख जो बाहर से हों; जैसे चोर, सर्प, इत्यादि से ।

३-वे दुःख जो देव की तरफ़ ले हों; जैसे गति वृष्टि, हिमपात,' ताप इत्यादि ।

ये सब दुःख पूर्व्य कमें। से होते हैं। इन सब दुःखों से हुटकारा पाना, मोत्त है।

# िक्कति कि **मोक्ष**ा किया करें

मोत्त तीन प्रकार की है:-

१-बानाधिकता से,२-इन्द्रियों के विषयों की उपरित होने से भौर ३-सर्वकर्मवासनादि के नाश होने से, जिसे निरोष मोक्ष कहत हैं।

इस मोत्त को प्राप्त कर मनुष्य फिर संसार में नहीं झाता है, सदैव परमानन्दकप हो जाता है।

मोत्त की प्राप्ति के लिये अविद्या अथवा अविदेश एक बड़ी बाधा है। बाधाए मुख्यतः पांच प्रकार की हैं —तमला, मोह, मायामोह, तमअ और अन्यतम्थ ।

इसके दूर करने के लिये, सांस्य दर्शन में k तत्व कहे हैं। उन का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये।

मनुष्य को समस्तना चाहिये कि गुगा, अर्थात्-सत्त्व-रज-तम प्रकृति में है, न कि ग्रातमा में, और जो कर्तापन है, वह सब गुगों में ही है। श्राविवक के कारण मनुष्य समस्तता है कि कर्तापन ग्रातमा में है भार कहता है कि मैं करता हूं; परन्तु यह मुर्खता है। श्रातमा निर्मल ग्रीर निर्विकल्य है। देखो गीता—

३ अध्याय २७ श्लोक

१३ श्रध्याय २६, ३० इलोक

सांख्यमतानुसार श्रष्यातम, श्राधिमृत श्रीर श्राधिदैव शन्दों के ये अर्थ हैं:—

वुद्धि, अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां; इन १३ को तीन तरह से विचार करो । जब इनमें से प्रत्येक अपने कप में देखी जाती है, तो वह एक ध्यान्तरिक भाव है, जो अध्यात्म कह्यलाता है। जिन थाहर वाली वस्तुओं का सम्बन्ध उस से होता है, वे आधिभूत हैं। जो इनमें से प्रत्येक का देवता है, वह आधिदेव हैं। वुद्धि स्वयं एक आन्तरिक भाव है। उसके द्वारा जिस विषय का निश्चय किया जाय, वह बाह्य है। इसिलिये इस उदाहरण में वुद्धि अध्यात्म हैं, विषय, आधिभूत है और इसका देवता प्रह्मा, आधिदेव हैं। इसी तरह अहंकार मनादि को अधि समक्ती।

ग्रन्थातम ध्रीर आधिमृत में वही सम्बन्ध है, जो ज्ञाता भ्रीर देय में है।

सांख्य तीन प्रमाण मानता है, श्रर्थात् १ प्रत्यद्ध २ अनुमान श्रीर ३ श्राप्त वचन ।

# योग दर्शन।

योगशास्त्र के सिद्धान्त प्राचीन हैं; परन्तु इन सवको शास्त्ररूप में लाना पतञ्जलि किपका काम है। योग का द्यर्थ मिलना है; परन्तु ईश्वर और जीव तो एकही है; इस लिये ईश्वर से जीव का मिलना, यह द्यर्थ महीं हो सकता है। द्यातः योग का द्यर्थ 'चित्तवृति निरोधः' अर्थात् चित्तकी वृतियों को रोकना है; जैसे कि पतञ्जलियोगदर्शन के द्यरम्म में कहागया है।

येग का सांख्य के साथ घनिष्ट सम्यन्ध है। सांख्य शास्त्र के उपदेश से मन को पूरा ज्ञान हो सकता है; परन्तु इन्द्रियों की चेष्टाओं और ससार सम्यन्धी चिन्ताओं से चिन्न फिर लित हो सकता है। इसलिए ऐसे साधन बताने की परमावश्यकता है, जो चिन्तको सदैच वश में रख सके और मोन्न प्राप्ति में उपयोगी हों।

ये साधन योगशास्त्र में कहेगये हैं।

चित्त के कार्य थे हैं—सत्यज्ञान — मिथ्याञ्चान—संकट्ट विकट्ट — निद्रा और स्मरण ।

सत्यक्षान तीन प्रमाणों के द्वारा होता है, प्रार्थात् प्रत्यत्व, प्रानुमान स्रोर साप्तवचन ।

मिध्याज्ञान का उदाहरण रज्जु में सपे का ध्रथवा सीपी में चांदी का भान होना है।

संकल्प विकल्प का उदाहरण ऐसी वस्तु; जैसे वर्गवृत्तकी कल्पना करना है, जो असम्मव है।

निद्रा और स्मरण के उदाहरण स्पष्ट हैं, लिखने की आवश्यकता नहीं। इन सब वृतियों को वशीभृत करने के साधन अभ्यास और वैराग्य हैं। अभ्यास से मन स्थिर होताहै। संसार से निवृति होना और निरन्तर निरभिताषी हो, वैराग्य है। योग के बाठ अङ्क हैं, प्रशीत १ यम २ नियम ३ ग्रासन ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार ६ घारणा ७ ध्यान और ५ समाधि

#### यम

थर्दिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिश्रहः, वे पांच यम हैं।

# नियम

तप, स्वाध्याय (जप), सतोप, शौच, ईश्वर पूजन; ये पांच नियमहें।

#### श्रासन

ष्रासन ८४ प्रकारके हैं, जिनमें से कुछ का वर्णन करते हैं:पद्मासन -वाई जाँघ पर दांये पैर को रखना श्रीर वांये पैर को दखना श्रीर वांये पैर को हाई जांघ पर रखना-दोनों हाथों को इस प्रकार रखना कि दांये हाथसे वांये पैर का अँगुठा और वांये हाथ से दांये पैर का श्रेंगुठा पकड़ा जाय श्रीर नेत्र नाफ की नोक पर रहें। इससे सब बीगारियां दूर हो जाती हैं।

स्त्रस्तिकास्तन-सीधा वैष्ठ कर पैरी को आमने सामने की आंधी के नीचे रखना।

भद्रासन-इंग्यों को कूर्म के रूप में उपस्थ के ऊपर कर पैरों के नीचे रखना।

वीरासन-प्रत्येक पैरकी आंबों के नीचे उड़ा रखना।

आसनों के सिवा मुद्राये भी हैं। शरीर के ऊपर के अवयवेंको विशेष रीतिसे नियुक्त करना मुद्रापं हैं।

्योगीके लिये भोजन वासादि के नियम भी बताये गये हैं।

#### त्राणायाम ।

शरीर की वायु का नाम प्राण है। आयाम उस का रोकना है। प्राणायाम का अर्थ शरीर की वायुको रोकना है। प्राणायाम तीन प्रकार का है-रेचक-पूरक और कुम्भक। रेचम-वाहर की तरफ़ से स्वांस लेना, पूर्क-उस की रोकना धोर कुरभक-वायु का साम्यभाव से स्थिर होना।

१२ मात्राओं का प्राणायाम मन्द है, २४ मात्राओं का मध्यम है स्रोर ३६ मात्राओं का श्रेष्ट है।

#### त्रत्याहार।

विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को खलग करने का नाम प्रत्याहार है। खासन और प्राणायाम के प्रयोग से इन्द्रियों को उन के विषयों से खलग कर सकते हैं। पुरुष खाँर प्रकृति का भेद जानने में यह क्रिया खावश्यक हैं।

#### धारणा।

नासिकाय- नाभी- मूर्डि थ्रादि एकं जगह में चित्तवंधन करने का नाम धारणा है। इस से मन चलायमान नहीं होता है थ्रोर एक चीज़ पर जमा रहता है।

#### ध्यान।

सव वस्तुओं को कोड़ कर एक लच्चपर ध्यान लगाने का नाम ध्यान है। इस में देशादि का अवलम्बन करना पड़ता है।

#### समाधि ।

देशादि का अवलम्बन कोड़कर ध्यान करना समाधि है। जिस का ध्यान किया जाय उसका आकार वनजाना अर्थात् उससे एक हो जाना समाधि है। यह दो प्रकार की है:--

समप्रज्ञात, सर्वोज प्रथवा सविकल्प और असमप्रज्ञात, निर्वीजं प्रथवा निर्विकल्प- किसी निश्चित लह्य पर मन का एक हो जाना पहले प्रकार की समाधि है। ध्यान में ऐसी अवस्था को पहुंच जाना कि कोई ध्यान विषय ही नहीं रहे, दूसरी तरह की समाधि है। समाधि प्राप्त करने के कई उपाय हैं; जैसे प्राणायाम, ईश्वरध्यान अथवासांख्य के २४ तस्वों का ध्यान क्रना।

#### समयम।

धारणा, ध्यान और समाधि मिल कर समयम कहलाता है, श्रौर इस से सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

# सिद्धियां (विभूतियां, ऋद्धियां)

- १ भूत भविप्यत घटनाथों का जानना ।
- २ पशु पद्मियों की वोली समक्तना।
- ३ पूर्व जन्मों का हाल जानना ।
- **४ दूसरे के मन की वात जानना।**
- ५ घट्य हो जाना ।
  - ६ मृत्यु का हाल जानना ।
  - ७ हाथी का वल प्राप्त करना।
  - जो वस्तुपं दूसरों को नहीं दिखाई दें, उने देखना ।
  - एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में चला जाना, धर्थात् क्या-न्तर होना ।
- १० भ्राकाश में गम्न करना।
- ११ रुई के समान कोमल हो जाना।
- १२ श्रवण शक्ति का श्रपरिमित हो जाना।
- १३ इन्द्रियों को जीतना ।
- १४ काल पर अधिकार करलेना।
- १५ शीत तापादि को जीतना।

१६ सुर्ख्य पर ध्यान लगाने से भूगोल का हाल जानना ।

१७ चन्द्रमा पर ध्यान लगाकर जोतिप शास्त्र जानना ।

१८ ध्रुव पर ध्यान लगाने से नक्तत्रों की गति जानना।

१६ नाभी पर ध्यान लगाने से श्रारीर के भीतर का सब हाल जानना।

२० ज्ञुधा पिपासा पर ग्रधिकार करना।

२१ ष्टाकाश के ब्राह्य हर्य देखना।

२२ दृढता प्राप्त करना।

इस प्रकार की वहुत सिद्धियां हैं। कोई चीज़ ऐसी नहीं है कि जो समयम करने से मालूम नहीं हो सकती हो।

बहुत से योगी इन सिद्धियों के गौरव को देख कर मोत्त प्राप्ति की चेष्टा से डिग जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। मोत्त पद का जन्म सदैव रहना चाहिए।

# संस्कार श्रीर वासनाएं।

कमौं के फल वासनारूप में रहते हैं, दिखाई नहीं देते, ग्रर्थात् स्मृति रूप में रहते हैं।

इन्द्रियों के विषय भोग से वासनाओं की उत्पत्ति होती है। विषय भोग इच्छा से उत्पन्न हाते हैं और इच्छा छहान से। यह छहान, हान और योग से नए हो सकता है; जैसे बीज छानि से जल सकता है। वासना को बीज समभाना चाहिये। जैसे बीज से बृह्म उत्पन्न होता है वैसे ही वासनाओं से शुभ और छाशुभ कर्मोंकी उत्पत्ति होकर संसार जाल दिखाई देने लगता है। इसका नाण योग के साधन से हो जाता है और कैवल्य मोद्यागत होती है।

सांख्य में ईश्वर का वर्णन नहीं है; परन्तु योगदर्शन में ईश्वर को सव पुरुषों का अधिष्ठाता वताया है। वह संसार भरकी मोज कर सकता है, वह अनादि-दयाल और सर्वन्न है। उसी का नाम प्रणव है। उसी के ध्यान से चित्त वृतियों का निरोध होता है और समाधि होती है।

# ् ( ११३ ) न्यायदुशेन ।

न्याय शास्त्र के कर्ता गौतम ऋषि हैं। मोच प्राप्त करना इस शास्त्र का मुख्योद्देश है। अपवर्ग, अर्थात् मोत्त साधन के पदार्थ निस लिखित हैं:---

१ प्रमाण २ प्रमेय ३ संशय ४ प्रयोजन ४ द्रप्रान्त ६ सिद्धान्त ७ भ्रवयब = तर्क ६ निर्णय १० वाद ११ जल्प १२ वितराहा १३ हेत्वा भास १४ कलह (कुल) १४ जाति १६ निग्रहस्थान।

#### ९ प्रमाण।

प्रमाण चार हैं, प्रशीत् प्रत्यज्ञं, यनुमान, उपमान धौर शब्द (विश्वास थोग्य पुरुप का वचन झथवा वेद प्रमाण)।

# २ प्रमेय।

प्रमेय १२ हैं, अर्थात् १ आत्मा २ शरीर ३ इन्द्रियां ४ इन्द्रियार्थ ५ बुद्धि ई मन ७ प्रवृति न दोप् ६ प्रेत्यसाव १० फल ११ दुःख १२ छापवर्ग ।

#### श्रात्मा ।

धातमा के लक्तण ये हैं:-

इच्डाह्रेपप्रयस्यख्रखदुःखश्चानान्यात्मनो जिङ्गमिति।

इच्छा करना, द्वेपकरना, यतकरना, सुखदुःख का प्रनुभव करना , ध्रौर ज्ञान प्राप्त करना ।

# ं शरीरः।

चेष्टे न्द्रियायाययः शरीरम् । चेष्टा धौर इन्द्रियों के क्षेत्र का नाम शरीर है।

# इन्द्रियां।

नाक,कान,जिव्हा, चत्तु और त्वक् । ये इन्द्रियां, पृथिवी, जल, तेज वायु और प्राकाश; पंचभृतों से उत्पन्न होती हैं ।

# इन्द्रियार्थ।

गंध,स्पर्श, रस, रूप, शब्द, ये पांचो इन्द्रियों के अर्थ, अर्थात् विपयहें।

# वृद्धि ।

वुद्धिः उपलिधिर्ज्ञानमित्यनधीन्तरम्।

शान उपजान्धि दुद्धिका जात्तण है। यह इन्द्रियों के विषय से भिन्नहै। प्रानुभव और स्मृति इसके दो रूप हैं। य्रानुभव दो प्रकार के हैं-यथार्थ प्रौर प्रायथार्थ। यथार्थ प्रानुभव प्रमाणों से सिद्ध है और प्रयथार्थ प्रानुभव सत्य रहित ग्रोर प्रयथार्थ है। जागृत प्रावस्था यथार्थ स्मृति का जत्तण है भौर सुत प्रावस्था, ग्रायथार्थ का।

#### मन

युगपन् ज्ञानानुत्पत्तिः मनसा विङ्गस् ।

मन में एक समय में एक से श्राधिक ज्ञान नहीं होता है, बुद्धि में होसकता है। इसिलिये बुद्धि मन से भिन्न है।

### त्रद्यति ।

प्रवृत्तिः वाग्वुद्धि शरीरारम्भ इति । वार्गो,वुद्धि श्रौरशरीर की चेष्टा केश्रारम्भ का नाम प्रवृत्ति है। श्रर्थात् इन चीजोंके काम करने का नामहै।

# दोष ।

प्रवर्तना जन्महोता: । मद्वि कराना काम दोषों का है।

# त्रेत्यभाव ।

पुनुकृतपत्तिः प्रत्यभावः । फिर जन्म लेना प्रत्यभाव है। पुनर्जन्म जब ही होसकता है जब आत्मा नित्य मानली जाये।

#### फल।

प्रवृत्ति देश्विजनिती (प्रधः फल्स् । प्रवृत्ति से दांप उत्पन्न होते हें और दोषों से जो अर्थ उत्पन्न होते हैं, उनका नाम फल है।

# दुःख।

वाधा होने का नाम दुःख है। दुःख के श्रभाव का नाम सुख है॥

# अपवर्ग [ मोक्ष ]

दुःखजन्मप्रवृतिदेषिमिध्याज्ञानानामुत्तरीतरापाये तदन्नरापायाद्यवर्गः।

दुःख जन्म प्रवृति दोष मिथ्याझान; इनका एक दूसरे के पीछे नाश होना फिर इन सबका अनन्तर नाश होना, अपवर्ग है। जैसे सुषुप्ति अवस्था वाले को कोई दुःख अनुभव नहीं होता है, वैसे ही अपवर्ग प्राप्त करने वाले को कोई दुःख नहीं रहता है।

# ३ संशय।

संशय इन इन चीजों से उत्पन्न होता है:--

१ वहुत चीजों में सामान धर्म होने से, २ किसी चीज में सामान धर्म नहीं होने से, ३ उपलब्धि अर्जुपलब्धि से ध्रथवा ४ विशेषात्तेप से।

समानानेकाधर्मे।पपत्तेविंग्ततिपत्तेक्पलब्ध्यनुपलब्धि

व्यवस्था तस विश्रेषाची विमर्शा संशयः॥

# ४ प्रयोजन ।

काम करने का जो श्रमिपाय है वही उसका प्रयोजन है; जैसे कोई श्रादमी रोटी करने के लिये लकड़ियां १कट्टी करता है, तो लकड़ियों के १कट्टे करने का प्रयोजन रोटी करना है।

#### भू दृष्टान्त ।

लै। विका परीचकाणां यस्मिनुषे नुद्धि साम्य स द्रष्टान्तः

जिस वातको सामान्यग्रादमी धौर परीत्ताकरनेवाला भ्रादमी पकसी समस्ते हों, वह दशन्त है।

# ६ सिद्धान्त।

प्रमाणों द्वारा लिख किये हुए विचार का नाम लिखान्त है। तचाधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः।

#### ७ ऋवयव ।

प्रतिज्ञाहित्दाहरणीपनयनिगमानि चनयवाः।

जिसमें ये पांचों श्रवयव हों, वह पंचावयद वाद्य कहलाता है। पांच श्रवयव ये हैं।

- १-प्रतिहा-पर्वत में श्रग्नि लगरही है।
- २-हेतु- क्योंकि उसमें से धुद्यां निकल रहा है।
- '. ३-उदाहरण-जहां २ धुद्यां होताहै, वहां २ श्राग्न होती है; जेसे पाक स्थान में । '
  - ४-उपनय-इस पर्वत में भी घुआं है।
  - k-निगम--इसलिए इस पर्वत में अग्नि जगरही है।

# द्र तर्क।

विना जानी हुई किसी वस्तुका सत्यरूप जानने के लिए युक्तियों को लगाना, तर्क है; जैसे यह जानना है कि झातमा नित्य है या श्रानित्य है। यदि झनित्य है, तो कम्मों का फल, आवागमन झौर मोत्त कैसे होसकते हैं। यह सिद्धान्त झसत्य है; क्योंकि ये सब आत्मा को होते हैं। इसलिए आत्मा नित्य है।

# ६ निर्णय।

दोनों पत्तों को सुनकर संशय हटाना धौर ठीक धर्थ निश्चय करना, निर्माय है।

#### १० वाद

विपत्ती के तर्क का खगडन करते हुए सत्य पत्तको प्रमाणों द्वरा सिद्ध करना, वाद है।

#### ११ जल्प

श्रपनी जीतके लिए क्लादि द्वरा तर्क करना, जल्प है।

# १२ वितएडा

वितराडा करने वाला किसी चीज़को सिद्ध नहीं करता है, क्षेत्रल दूसरे की पत्त काटने की चेष्टा करताहै।

# १३ हेत्वाभास

भूठा हेतु वताना हेत्वामासहै । यह पांच तरह का होताहै । १-सविभचार-यह श्रनेक वातों को सिद्ध करने की चेप्रा है । २-विरुद्ध-यह सिद्धान्त के तिरोधी वातको सिद्ध करने की चेप्रा है । ३-प्रकरणंसम-यह दोनों पत्तों को सिद्ध करने की चेष्टा है। ४-साधासम-इस में सिद्ध करने के लिए अधिक प्रमाण देने की आवे-प्रयकताहै।

४-कालातीत-समय चलेजाने पर सिद्ध करने की चेष्टा करना।

# १४ छल [ कलह ]

#### वचनविघाता ऽर्थन स्पापपत्या क्लम्॥

एक शब्द के दो अर्थहों । उनमें से दूसरे अर्थ को लेकर किसी वाक्य को काटा जाय, अर्थात् उसपर विद्यात किया जाये, तो छलहे। यह तीन प्रकार का होताहै:-

१-वाकञ्चल २-सामान्यञ्ज ३-उपचारञ्ज

वाकञ्जल (१) यह वालक नव कमवल वला है, ध्रर्थात् नया कमवल रखताहै-

> (२) इन्ज से यह कहना कि यह वालक १ कमवल रखताहै। यहां नव शब्द के दो अर्थ हें-नया और १

सामान्यक्त-(१) यह ब्राह्मण वड़ा विद्वान्त्र्यौर सदाचारी है।

(२) कुल से यह कहना कि यह विद्यान् ध्रौर सदाचारी हो ही नहीं सकता है; क्योंकि कितने ही ब्राह्मणों के पेसे लड़के हैं जो विद्वान् ध्रौर सदाचारी नहीं हैं।

उपचारक्तल-(१) फांसी चिल्ला रही है। (२) इल से यह कहना कि जड़ फांसी का स्थान चिल्ला रहा है, न कि वह मनुष्य जो फांसी पर लटकाया गया है।

# १५ जाति ।

साधरवैवैधमीम्या प्रत्यवस्थानं जाति:।

वस्तुओं के एकसा अथवा मिन्न होने पर तर्क करना। जाति २४ प्रकार की है।

# १६ नियहस्थान ।

जब कोई किसी तर्क के सममने में असमर्थ हो, ध्रथवा जानकर मिथ्या समभता हो, तो निश्रहस्थान होता है। ऐसा मनुष्य जो समभ ही नहीं सकता है, अथवा विरुद्ध समभ जाता है, उस के साथ वाद करना बृथा है। इस के २२ मेद हैं।



# वैशेषिकदर्शन

वैशेषिकशास्त्र के रिवयता कणाद ऋषि हैं। इस शास्त्र के अनुसार संसार की सब वस्तुपं सात पदार्थों में विभक्त हैं, अर्थात् १ द्रव्य २ गुण् ३ कम्मे ४ सामान्य ४ विशेष ई समवाय और ७ अभाव।

#### १ द्रव्य ।

१ पृथिची २ जल २ वासु ४ ग्राग्नि १ श्राकाश ६ काल ७ दिशा = श्रात्मा ६ मन।

ये १ द्रव्य हैं; परन्तु ये गुण के विना नहीं रह सकते हैं, खौर न गुण, द्रव्य के विना रह सकते हैं। इनमें से पहले चार द्रव्य नित्य खौर प्रानित्य होनों हैं खौर परमाण ध्रथवा शरीर रूप में रहते हैं। नित्य द्रव्य, शरीर, ध्रशरीर ध्रथवा इन्द्रियों के रूप में रहते हैं। परमाणुद्रों को प्रेरणा करनेवाला ईश्वर है। ईश्वर एक है; परन्तु ईश्वर के ध्रंश, जो जीव कहलाते हैं, धनेक हैं।

## द्रव्यविवेचनं।

पृथिवी, जल, तेज- वायु द्रव्य परमाग्रुक्त में नित्य हैं, और कार्थ क्यों में अनित्य हैं, परन्तु जब शरीर इन्द्रियादि कार्य क्रप में होते हैं, तो नाशमान हैं।

श्राकाश्र-पक, विमु, सर्वव्यापी और नित्य है, अर्थात् नाशमान ' नहीं है, और इस का गुण शब्द है।

काल-भूत- भविष्यत्- वर्तमान समय सूचक है, ध्रौर एक, विभु सर्वव्यापी द्यौर नित्य है।

दिक्-पूर्वपिश्वमादि दिशा सूचक है, और एक, विश्व और नित्य है। श्वात्मा-श्वान का श्राश्वार है, श्रर्थात् जिस में श्वान रहता है। जीवा-त्मा श्रीर परमात्मा-चे दो भेद हैं। परमात्मा ईश्वर है, जो सर्वष्ठ, एक श्रीर सुख दुःख रहित है। जीवात्मा, प्रत्येक शरीर में श्रजग २ है। श्रात्मा, विसु, सर्वव्यापी श्रीर नित्य है। इस में श्राठ गुग रहते हैं-सुख, दुःख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, धर्म, श्रधर्म श्रीर श्वान।

मन्-सुखदुःखप्राप्ति के साधन की इन्द्रिय का नाम मन है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ अलग २ रहने से मन अनन्त हैं। मन अपने परमाग्रुक्षप में नित्य है।

# २ गुण २४ हैं।

- १ क्तप-पृथिनी, जल और अग्नि में रूप गुगा रहता है।
- २ रस-पृथिबी ग्रौर जल का गुग
- इ गंध-पृथिवी का गुण्
- ८ स्पर्श-पृथिवी, जल, तेज धौर वायु में है।
- थू संख्यां ≟एक अनेक वताती है। ६ द्रव्यों में रहती है
- ६ परिभागा नाप करना। ६ द्रव्यों में होता है।
- ७ पृथक्त्व-भिन्नता। ६ द्रव्यों में है।
- द संयान-मिलाना । ६ द्रव्यों में है
- ८ विभाग-अलग करना। १ द्रव्यों में है
- १० प्रत्न पहला, पिछला, दूर पासादि-यह गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है, जैसे दूर और पास (दिशाके कारण), वृद्धि और युवा ( कालके कारण )
  - ११ अपरत्व परत्वके विंपरीत
- १२ युद्धि सव व्यवहार के हेतुकान का नाम बुद्धि है। यह दो प्रकार की है, स्टुति और धनुभव। जो संस्कारों से क्षान हो, वह स्मृति

है, भ्रोर जो झान उससे भिन्न हो, वह श्रनुभव है। श्रनुभव दो तरह के हैं-यथार्थ श्रोर श्रयथार्थ ।

जैसी चीज़ हो बैसीही देखना, यथार्थ बान है; जैसे चांदी को चांदी देखना। इसे प्रमा कहते हैं। सीप में चांदी देखना ग्रादि, ध्रयथार्थ बान है। इसे ध्रप्रमा कहते हैं।

ं यथार्थ श्रनुभव चार प्रकार का है श्रोर उसके चार प्रमाग हैं, श्रथीत् प्रत्यत्त, अनुमान, उपमान श्रोर श्राप्तशब्द।

- १३ सुरवु जो सबको अनुक्ल मालूम हो, यह सुख है।
- १४ दु:खु-जो प्रतिकृल हो, वह दुःख है।
- १५ प्रयत्न चेष्टा करना या कराना।
- १६ दुक्ता चाहना (कामः)।
- १७ द्वेष-क्रोध करना।
- १८ गुक्तस्य-भारीपन-यह गुण पृथिबी श्रीर जल में रहता है।
- १८ द्रवत्व-पतलापन-यह गुण पृथिवी, जल झौर तेजमें होता है।
- २० स्ने ह चिकनापन।
- २१ संस्कार-तीन प्रकार के हैं- वेग, भावना धौर स्थिति-स्थापक।

वेग-पृथिवी, जल, तेज़ और मन में रहता है।

भावना-स्मृति का कारण है और ध्रानुभव से उत्पन्न होती है और ध्रात्मा में ही केवल रहती है।

स्थितिस्थापक-जो चीज पलट दी है, उसका फिर वेसा ही होजानाः जैसे रवड़ चटाई थादि।

२२ धरमी-शास्त्रोक्त कर्म करना।

. २३ ऋधरमें शास्त्र में जिसका निषेध है, उसे करना, ग्रथमी है। ं२४ श्रृद्ध-याकाश का गुण है।

## ३ कर्म।

पृथिवी, जल, वायु और तेज में कर्म्म होता

- १ उत्त्विपरा ऊपर की तरफ फेंकना।
- २ अपचोपगा—नीचे की तरफ फंकना।
- ३ आकुञ्चन सुकड्ना।
- ८ प्रसर्ग-फैलना।
- पू गमन-जाना

#### ८ सामान्य

सवमें पकसापन होना सामान्य है। यह दो प्रकार का हि-पर और अपर, अर्थात् अधिक और न्यून; सामान्य नित्य है, अनेक के अन्त-रगत है और द्रव्य, गुण और कर्म्म में रहता है। पर, सत्ता है और अपर, द्रव्य जाति है।

### प्र विशेष

विशेष, पृथक्त्व को बताता है। यह नित्य द्रव्यों में रहता है। विशेष धनन्त हैं, अर्थात् अर्सब्य हैं। विशेष, नित्य द्रव्यों में रहता है छोर सामान्य सें भिन्नता बताता है।

#### ६ समवाय

समवाय एक है। इसके भेद नहीं हैं। यह अभिन्नता स्वक है। जो सम्बन्ध घोड़े और सवार में हैं, वह सयोग सम्बन्ध हैं; परन्तु जो सम्बन्ध सृत और कपड़े में हैं, वह समवाय सम्बन्ध है। पिता-पुत्र, सम्पूर्ण/ भाग, कारण-कार्य, द्रव्य-गुण, विचार-वार्णी; इन सव में सम-वाय सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध वह सम्बन्ध है जो सदैव दोनों में श्रान्तरिक हो । वह नित्य सम्बन्ध है। जो चीज़ें श्रलग नहीं हो संकती हैं, उनमें समवाय सम्बन्ध है। जो दो चीज़ें पृथक् नहीं हो सक्ती हैं, उनमें से एक चीज़ दूसरीचीज़में धरी होती है; जैसे श्रवयव श्रोर वह जिसमें श्रवयव हों, गुण श्रोर वह जिसमें गुण हों, किया श्रोर किया करने वाला, जाति श्रोर व्यक्ति, विशेष श्रोर नित्य द्रव्य।

#### ७ अभाव

ग्रभावका ग्रर्थ नहीं होना है। वह चार प्रकार है।

१ प्रागभाद—जैसे वनाहुष्या कपड़ा श्रौर वह कपड़ा जो श्रभी नहीं वना है।

- २ प्रध्वन्सासाव-जैसे वनेहुये कपड़े का नाश होना।
- ३ अल्बनाभाव-जैसे वांभा स्त्री के पुत्र, जो कभी था ही नहीं।
- १ अन्योन्याभाव-जैसे जो घड़ा है वह कपड़ा नहीं है।

## कारण तीनहैं

- १ समवायिकारण-जैसे स्त् श्रौर कपड़े का सम्बन्ध
- २ ससमर्वायिकारण्—जैसे रंग श्रौर कपड़े का सम्बन्ध
- ३ निमित्तकार्गा जैसे ताना वाना और कपड़े का सम्बन्ध

## हेत्वाभास

पेसा वाक्य जो देखने में सही मालूम हो, परन्तु वास्तव में सही नहीं है, हेत्वामास कहलाता है; जैसे पर्वत में ग्राम्ति है; क्योंकि यथार्थ श्रतुमव होता है। इस में हेतु ठीक नहीं है; क्योंकि नदी का भी यथार्थ श्रतुमव हो सकता है। हेत्वामास पांच प्रकार के होते हैं।

श्रयथार्थं श्रनुसव तीन प्रकार का है।

१ संशय २ विपर्यय ३ तर्क.

पक ही चीज़ में विरुद्ध धर्म का ज्ञान होना संशय है; जैसे यह भ्रम होना कि यह श्रादमी है या स्थाग्रा।

मिथ्या ज्ञानका नाम विपर्यय है; जैसे सीपमें चांदी देखना। व्याप्यके ध्रारोपण से ध्यापक का आरोप करना, तर्क है; जैसे यदि श्रक्षि नहीं होती, तो धुँआ भी नहीं होता।।

### परमाणु

जान्तरगते भानी यत्स्क्मं दृश्यते रजः । भागस्तस्य च षष्टोयः परमागुःस उच्यते ॥

जाल के भीतर खूर्य किरणों के जाने से जो सूक्त्म रज दिखाई देती है, उस रज के कुटे भाग को परमाणु कहते हैं। इस के खगड़ नहीं हो सकते हैं। अपने रूप में परमाणु नित्य हैं और जब आपस में मिल जाते हैं तब अनित्य अर्थात् नाशमान हो जाते हैं। जितने शरीरादि हैं, सब इन्ही के बने हैं। पहले पहल ईश्वर की बेरणा से दो परमाणु मिलते हैं; ये अणु कहलाते हैं। जब तीन अणु मिलते हैं, तब वे दिखाई दे सकते हैं। इनके मिलने का क्रम यहहै।

पहले दो परमाणु मिलकर एक छणु होता है । फिर तीन अणु मिलते हैं । फिर ऐसे चार अणु जो तीन तीन से एक बना हो मिलते हैं । इस तरह और मिलते जाते हैं और सर्व शरीरों को निर्माण करते हैं । परमाणु नित्य हैं । संयुक्त परमाणु अनित्य हैं।

# पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसा के कत्ती जैमिनि ऋषि हैं। यह पांच प्रमाण मानते हैं, अर्थात् १ प्रत्यत्त २ अनुमान ३ उपमान ४ अर्थपित और ५ रान्द्र। उत्तरमीमांसा का विषय जीव ब्रह्म और उनका सम्प्रम्थ वताना है और पूर्व मीमांसा का विषय अर्म का निर्णय करना है। यहादि कर्म करने में जो धर्म होता है, वह सब इस मीमांसा में अन्छी तरह दिखाया गया है। यहाकियाएँ क्या क्या हैं १ उनमें क्या क्या मेद हैं १ कीनसी क्रियाएं स्वेदा करने की हैं; यह सब विषय इस मीमांसा में प्रतिपादित हैं। किस विधि का क्या प्रभाव है १ राजस्य यह क्या है १ उसके करने का कीन अधिकारी है १ प्रायक्षत क्या हैं और कव किये जाते हैं १ यह सब विषय भी इस मीमांसा में हैं। अत्यय यह मीमांसा कर्मकाण्ड विषयक है। इस मीमांसा का आधार वहाँ के ब्राह्मणों के सिद्धान्तों पर है। प्राचीनकाल में यहादि कर्मकाण्ड का बहुत प्रचार था। ज्ञानकाण्ड के उपदेश फैलने से धौर भक्तिमांग का प्रचार होने से कर्मकाण्ड की कमी होगई। अब यह केवल नाममात्र ही रहगया है।



# भागवतधर्म अथवा भक्तिमार्ग

भक्तिमार्ग का ग्रारम्म भागवतधर्म से हुन्ना मालम होता है। भागवतधर्म के मुख्य अन्थ थे हैं; महाभारत के शाँतिपर्वमें नारायणी-थोपारव्यान २ शाण्डिल्यसूत्र, ३ सागवतपुराण, ४ नारदं पन्चरात्र ४ नार-दस्य और ६ रामानुजाचार्यग्रादिके ग्रन्थ।नारायणीयोपाख्यान के सिवा अन्य सब अन्य भगवद्गीता के पीक्ने के वने हुये हैं; क्योंकि इनमें से कितनो में भगवदीता के ऋाँकों के प्रमाण पाये जाते हैं। नारा-यखीयोपांख्यान में वर्णन है कि नर और नारायण नामके दो ऋषिया ने भागवतधर्म को पहले पहल चलाया, और जब उनके कहने से नारह ऋषि श्वेतद्वीप को गये, तर्व वहाँ भगवान ने स्वयँ नारद को इस धर्मका उपदेश किया। यह श्वेतद्वीप क्षीरसमुद्र में है श्रीर जीरसमुद्र मेरुपर्वत के उत्तर में है। मागवतधर्म में परमेश्वर को वासुदेव, जीवको संकर्पण, मनको प्रयम्न ग्रीर ग्रह्मार को श्रनिरुद्ध कहा है।इस धर्म में पहले निष्कामकर्म करनेका छी उपदेश था, फिर भक्तिका समा-वेश हुन्ना। भागवत धर्म ईसा से लग भग १४०० वर्ष पहले प्रचीनित हुआ था। इसी धर्म से भगवद्गीता में भक्तिमार्ग के छँश लिये गये हैं, धीर निष्कामकर्म के उपदेश का भी आधार यही धर्म है। इससे यह सिद्ध होता है कि भक्तिमार्ग, जो गीताके अन्तरगत है, कहीं बाहरसे नहीं धाया है: प्रत्युत प्राचीन भागवत धर्म का ही एक ध्रश है। भक्तिमार्ग का प्रासिद्ध प्रनथ नारदसुत्र इस समय में अतिमाननीय है । इस कारण इस प्रन्थ के भावोंका सारांश यहां देते हैं, जिससे गीता का भक्तिविषय स्पष्ट धौर बोधगम्य हो जाय ।

# नारदभक्तिसूत्र।

#### भक्ति का स्वक्षप

भक्ति परमन्नेम ध्रीर ध्रमृत स्वरूपा है। यह प्रेम भ्रानिर्वचनीय है। जैसे भूगा स्वाद को नहीं कह सकता है, बैसे भक्त भी नेमस्वरूप की बता नहीं सकता है। प्रेम, गुण और कामनाओं से रिष्टत है। वह सहैव धढ़नेवाला है, एक रस है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है ध्रीर केवल अनुभव स्वरूप है।

## भक्तिमतभेद् ।

पराधार्य का मत है कि ईश्वरपुजादि में अनुराग करना भक्ति है।
गर्ग कहते हैं कि कथादि में अनुराग होने का नाम मिक है। शागिडल्य का मत है कि आत्मा में निरन्तर रित करना मिक है। परन्तु नारइ की के मतानुसार ईश्वर में सब आचारों का अपंग कर देना और ईश्वर के समरण में परमञ्चाकुछ होना मिक है। यथार्थ में है भी यही।
परन्तु इस में एक आवश्यक अंश और है, और वह यह है कि जिसकी भिक्त की जाय, उसके महात्म का ज्ञान रहै, अर्थात् उसकी अष्ठता का सदैव समरण रहे, नहीं तो इस ज्ञान के बिना भिक्त ज्याभिचारियों के प्रेम की वरावर है। अष्ठ मिक का सर्वोत्तम उदाहरण चुज की गोपियां हैं। ये शिक्रण की परममक थीं। कर्म, ज्ञान और योग से भिक्त, बढ़ कर है। क्योंकि कर्म, ज्ञान और योग तो साधन ही हैं और भिक्त, फलक्ष है।

किसी किसी का मत है कि भक्ति के तिये ज्ञान होना भी घाव-रयक है, और भक्ति घौर ज्ञान एक दूसरे पर अवलिस्वत है; परन्तु नारद जी ज्ञान को घावस्यक नहीं समस्तते हैं; क्योंकि भोजन का ज्ञान होने से जुधा राम नहीं होती है। इसी तरह ईश्वर का ज्ञान होने से भक्ति नहीं हो जाती है; क्योंकि भक्ति, हृदय के प्रेम का विषय है और ज्ञान, बुद्धि का।

## भक्ति के प्रकार की है।

सत्व, रज, तम, तीनों गुणों के भेद से, अथवा जिज्ञासुओं के भेद से, भक्ति तीन प्रकार की है। पहली, दूसरी से उत्तम है: खोर दूसरी, तीसरी से। अपने कर में एक होते हुँये भी मिक्त १० प्रकार की है:--

- १-ईश्वर के गुरा धौर महात्म सुनने की भक्ति।
- २--ईश्वर के रूप की भक्ति।
- ३--पुजा की भक्ति।
- ४--स्मरण करने की भक्ति।
- ५-दास्य अर्थात् दासभावकी भक्ति।
- ६--- लखाभाव की शक्ति।
- ७-कान्ताभाव की भक्ति।
- ५ भ्रात्म निवेदन की भक्ति
- ६--तन्मयरूपी भक्ति
- १० परमविरह की भक्ति

## भक्ति मार्ग की उत्कृष्टता

धीर मार्गों की अपेता भोक आतिसुलम है; क्योंकि उसकी सिद्धि में अन्य प्रमाणों की आधश्यकता नहीं है। वह स्वयं सिद्ध, शान्ति घौर परमानन्दक्त है। दूसरे मार्ग केवल साधन कर ही हैं; परन्तु मार्क कलकर है।

## मक्ति साधन

भक्तिसाधन दो प्रकार के हैं-एक त्याग-तम्बन्धी और दुसरे कर्तव्य-सम्बन्धी।

### त्यागसम्बन्धी साधन

१—इन्द्रियों के विषय श्रीर सांसारिकसङ्ग त्याग करना, अर्थात् सांसारिक चीज़ों से निवृति करना।

२--अभिमान और दम्भादि को त्याग करना

३—स्त्री, धन, नास्तिक श्रीर वैरियों के चरित्र की नहीं छुनगा।

४—वाद का श्रवलम्बन नहीं करना; क्योंकि वाद से क्याय श्रीर बहुलभाव होता है।

५—कुलंग सर्वथा छोड़देना; क्योंकि यह काम, क्रोध, मोह, स्मृति भ्रंश, बुद्धि नाश ध्रोर सर्व नाश करने का कारगाँहैं। बुरे सङ्ग से इनकी तरङ्ग समुद्रतरङ्गों के समान बड़ी हो जाती हैं।

### कत्त्वयसम्बन्धी साधन

१—निरन्तरभन्न करना।

२--- शगवत् के गुण छुनना और क्रीर्चन फरना।

३—महातमाओं का सङ्ग, जो दुर्जभ, धगम्य धौर सिद्धि दायक है। करना। ऐसा सङ्ग ईश्वर की कृपासे ही प्राप्त होता है। ईश्वर और ऐसे महातमाओं में कोई मेद नहीं है। इसिटिये इनका सङ्ग सर्वथा गृहग करना चाहिये।

४ — जब तक भक्ति नहीं हो, तो लोक व्यवहार करना; परन्तु कर्मी के फल सर्वया त्याग करना।

. ५—अपने सब शाचारों को ईक्षर के अपेगा करना छोर कामं, क्रोध धारिमानादि भी उसी के प्रति करना।

६ — जैंसे परमस्वाभिभक्त दास ग्रीर परमपतिवता संती ग्रपने स्वामी और पति की सेवा करते हैं, वैसे ही ईश्वर के भक्त को ईश्वर का भजन करना चाहिये। उसे प्रेम का स्वरूप वन जाना चाहिये

७— सुख, दुःख, ६च्छा लामादि को छोड़कर भौर काल की प्रतीत्ता करते हुये मक को चाहिये कि भाधा त्रण भी व्यर्थ नहीं खोवे। ५—ग्राहिसां, सत्य, शौच, द्या, ग्रास्तिकता आदि का पालन करना

ध-सर्वदा सब भावों से निश्चिन्त हो केवल भगवान का ही भजन करना

१०—सारांश यह है कि भक्ति महात्माओं की कृपा, अथवा ईश्वर कृपांशसे प्राप्त होती है। ईश्वर की जिस पर कृपा होती है, उसी भक्त के हृदय में वह प्रकाश रूप होकर, अनुभव कराता है।

## भक्तों के लक्षण।

भक्त, खांसारिक खुलों का त्याग कर देते हैं, महात्माओं का संग करते हैं, अभिमानादि को छोड देते हैं। एकान्त स्थानी में समग्र करते हैं और भक्ति के स्नानन्द में ही मन्त रहते हैं। वे संसार बंधनों से दूर रहते हैं, साव, रज, तम, तीनों गुणों के परे जाने की चेप्रा करते हैं, ममत्व और सम्पति को छोड देते हैं, कम भार उन के फलों की कामना भी त्याग देते हैं, सदैव निर्भय रहते हैं। पूर्णभक्त बेदाध्ययनादि का भी त्याग कर देते हैं. निरन्तरशान्ताचेत्त से ईश्वर का भजन करते हैं, केवल भक्तविषय की ही वार्तालाप गहद वाणी और श्रानन्दपूर्ण अभुघारा से करते हैं। इनमें जाति, विद्या, सोंदर्य, कुल, घनादि सम्बन्धी कोई भेद नहीं रहता है। ये ईश्वर के ही होकर ईश्वर में रहते हैं। मिक प्राप्त करने परं सिद्धावस्था को पहुंच जाते हैं, अर्थात् निरन्तर आत्मानन्द हो जाते हैं। इन के मन में इच्छा, हेप, अथवा अपनी उन्नति की वृति कमी नहीं उठती है। ऐसे मनुष्य पृथिवी को और उस कुछ को जिसमें जन्म जेते हैं, पवित्र बनाते हैं। इनसे तीर्थ स्थान पवित्र हो जाते हैं, अच्छे कामों में श्रेष्ठता आजाती है, और धर्म ग्रन्थों में सत्यता प्राहर्माव होती है। इन के पूर्वज निरन्तर सुखी हो जाते हैं। इनकी मद्दिमा देनता तक गाते है स्रौर पृथिवी उनको स्रपना वड़े श्रमूच्य रत्न समसती है! पेसे भक्त भवलागर से स्वयम् पार हो जाते हैं और दुसरों को भी पार लगा देते हैं।

# श्राचारधर्म ।

गीता में घाचारधंम का जत्तकर श्रीभगवान ने बहुत से वाक्य कहे हैं। कम क्यों करना चाहिये? यह प्रश्न आचारधर्म का मूलाधार है। कोई कहते हैं कि कम को इस विचार से करना चाहिये कि उसके करने से हम यह लाम होगा, हमें इतना झुख प्राप्त होगा, अथवा हमारे प्रिय जनों का इतना झुख और छाभ होगा। ऐसे ऐसे बाहुरी विचारों से किसी कम को करना, अधिमौतिक हिं है। इस हिं से कम करने में बहुतसी भूज हो सकती हैं, क्योंकि जिस काम को हम अपनी छोटी बुद्धि से अच्छा समझते हैं, सम्भव है कि वह वास्तव में बुरा हो।

कोई चोर यह समझ कर कि चोरी करने से मुझ को लाम होगा और मुझ और मेरे कुटुम्य का सुख होगा, चोरी कर सकता है। यदि कम करने की आधिमीतिक दृष्टि ठीक समझी जाय, तो उसके अनुसार चोरी करना कोई पाप नहीं है। इसिलये इस दृष्टि को भारतवर्ष के झानियों ने बहुत न्यून समझा है। पिश्चमदेशीय पंडित, बहुधा इसी दृष्टि का जलकर आचारधम को निर्माण करते हैं। कोई यह कहते हैं कि जैसे मनुष्य में देखने-सुनने-स्वान आदि की इन्द्रियां हैं, वैसेही एक धर्माधर्म निर्णयक इन्द्रिय भी है, जो शिष्ट्रही बतादेती है कि यह काम हमारे यह कम करने का है या नहीं। छोग कहा करते हैं कि यह काम हमारे अन्तः करण को नहीं भाता है, अथवा हमारा मन इसके करने में राज़ी नहीं है। इस विचार के अनुसार जो काम अन्तः करण को बाह्र अच्छा लगे वह अच्छा है,।

दूसरे शब्दों में यह कहना है कि धर्माधर्म का निर्णय छन्तः करण के मानने ही पर है। इस दृष्टि को आधिदैविक दृष्टि कहते हैं। हमारे ऋषि महात्माओं ने इस दृष्टि को भी अकाट प्रमाण नहीं समका है; क्योंकि अन्तः करण का शुद्ध और मिलन होना बहुत कुक्क विद्यानसम्पता और सतसङ्ग परही निर्भरहै । प्राचीन समय में ठगलोग मन्नण्यों को मारहाला करतेथे। उनका भ्रन्त:करण इस वात को अंगीकार कर लेता थाः परन्त अपना वचन देकर तोड़ना, उनके अन्तःकरण को अस्वीकृत था। इससे यद्व झात हुआ कि सबका अन्तःकरण एकसा नहीं होता है, भ्रीर अन्तःकरण का अच्छा बुरा होना पूर्वोक्त चीज़ों पर निर्मरहै। यदि धर्म अधर्म की नीव ग्रन्तःकरण की गवाही पर रक्खी जाय, तो घट्ट बड़ी कमज़ोर द्वागी; इसित्ये कोई श्रीर ही कसाटी होनी चाहिये. जिस पर धर्म अधर्म का निर्णय ठीक होजाय. और यह कसौटी प्राच्यात्मिक दृष्टि ही है, अर्थात् यह दृष्टि जिससे यह ज्ञान होवे कि आतमा क्या है और समस्त संसार में जो ग्रात्माएँ हैं, उनसे मेरी ग्रात्मा का क्या सम्बन्ध है। जब यह मालूम होगया कि सब बराखर जीवों में पकदी आत्मा है, तो संसारी जीवां के साथ गाइवन्युता द्वासकती है। ब्राध्यात्मिक दिख्वाला, धर्म ग्रधर्म की यह कसीटी रखता है कि जिस कर्म में किसी चराचर जीवको हानि, अथवा दुःल पहुँचे, वह युरा है। वह समकता है कि दुःख मेरी ही भारमा कों पहुँचाता है। उसकी समहिष्ट सभी जीवों में होजाती है, वह ममता-वैर-राग-द्वेप-अहँकार की प्रेरणा से कोई काम नहीं करता है, और उसकी दृष्टि में समस्त जीव अपने क़ुदुस्य के समान हो जाते हैं; क्योंकि कहा है:-

## भयं निजःपरे। वित्ति गण्ना सघुचेतसाम्। स्टारचरितानान्तु वसुधेव कुटुम्बकस्॥

इसका यह अर्थ है कि छोटे चित्तवाले मनुष्य यह कहते हैं कि यह मेरा है, यह तेरा है, अर्थात् अपने और दूसरों के जीवों में सुख दुःख की दृष्टि से अन्तर रखेते हैं; परन्तु जो उदारचित्त हैं, वे भू-मण्डल के चराचर जीवों को अपने कुटुम्ब समान ही मानते हैं। इससे आध्यात्मिकदृष्टि ही गीता के आखारधर्म में मानी गई है।

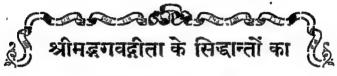
#### ( १ई४ )

देस देखिका आधार भीता के देन क्लोकों पर हैं:— सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । देखते यागयुक्तात्मा सर्वन समदर्शनः ॥ ( थ्र. ६ क्लो. २६)

यो मां पण्यति सर्वेच सर्वेच मयि पण्यति । तस्या हं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ (स. ६ महो. ३०)

आगे के दो खोक ३१, ३२ भी यही बताते हैं।





सत्रमाण शृङ्खलावद्ध वर्णन ।



# श्रीमद्भगवद्गीता



## सृष्टि ।

सृष्टि कल्प के आदि में ब्रह्मकी सं० ९ हो० ८,७,१० योगमाया से, जो प्रकृति कहलाती है, उत्पन्न होती व० ७ क्षे० २५, १४ है और करुप के अन्त में उसी में लय हो जाती अ०४ की० ६ है। ब्रह्मा के दिन व रात्रि का नाम करूप है, क॰ ८ छो० १७, १८ जो पक सहस्र युगों का होता है। इस तरह सय सृष्टि ध्रव्यक्त ब्रह्म से ब्रह्मा के दिन में होती है और ब्रह्मा की रात्रि आने पर उसी में लय हो जाती है। प्रकृति और पुरुष ध्यनादि हैं। प्रकृति अ०१३ धे०२० में सत्त-रज्ञ-तम तीन गुण हैं, और ये ध्यनादि हैं। अ०१४ थे० ५ कार्य-कारण श्रेखला का प्रारम्भ इसी से होता है। न० १३ छे० २१ प्रकृति दो प्रकार की है-परा झौर झपरा। पृथिवी- स० ७ छो० ४, ५ -जल-तेज-वायु-आकाश-मृन-वुद्धि थ्रौर अहंकार; ये सव अपरा प्रकृति हैं। त्रेत्र और उसके विकार, नः १३ को ६, ७ अर्थात् महामूत-अहंकार-बुद्धि-अञ्चक-कानेन्द्रियां-कर्मेन्द्रियां-मन-इन्द्रियार्थ-इच्छा-द्वेप-सुख-दुःख-सं-योग-कान और धृति; ये सब अपरा प्रकिति में हैं। परा प्रकृति सब भूतों की योनि है। परमात्मा इसी न० १४ शे॰ ३,४ में गर्भवीज घरता है। इस से सब सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि कम यह हैं:-कल्प के प्रारम्भ में सात ऋषि, चार सनातन कुमार अ० १० क्षे० ६ श्रीर मनु, जो ब्रह्मान्श हैं, मनसे उत्पन्न हुए । इनसे मनुप्यजातिं उत्पन्न हुई। बुद्धि से लगा सूर्त्म से सूरम परमासुओं तक अ०१३ थे।२० **झ**० ७ स्रो० १३ सद वस्तुएं, सत्त्व-रज-तम गुर्शो से वनी हैं।

- भ॰ १४ थे॰ ६ सत्त्वगुण के लत्त्तण ये हैं:-निर्मलता-प्रकाश-प्रारोग्य श्रीर सुख। सत्त्वगुण के कारण जीव का सम्बन्ध इतन के साथ होता है।
- ब॰ १४ छे।॰ ७ रजोगुगा, राग श्रौर तृप्णा को उत्पन्न करनेवाला है। इसके क़ारण जीवको कर्मवन्यनहोता है।
- " " तमोगुण ब्रज्ञान से उत्पन्न होता है, ध्रौर सब जीवों को मोह कराने वाला है। यह जीव को प्रमाद, ब्रालस्य ध्रौर निद्रा द्वारा वांधता है।
- " " १० जब रज और तम, द्वे रहते हैं, तव सत्त्वगुख प्रधान होता है। और जब सत्त्व और तम द्वे रहते हैं, तब रजोगुख प्रधान होता है, और जब सत्त्व और रज दव जाते हैं, तब तमोगुख दिखाई देता है।
- " " <sup>११</sup> जब देह के सब द्वारों से ज्ञान का प्रकाश होने जगे, तब जानों कि सत्त्वगुण की वृद्धि हो रही है।
- " " १२ जब जोभ, प्रवृति, कर्मों का आरम्भ, ध्रशान्ति छौर इच्छा उत्पन्न होवें, तब रजोगुण की वृद्धि जानो ।
- ष॰ १४ क्षे॰ १३ जब स्रामकाश, स्राम्बृति, प्रमाद स्रौर मोह उत्पन्न होंचे, तब तमोगुण जानो ।
- ष्ठ १८, १७, जितनी संसार की वस्तुषं अथवा मानसिक भाव हैं, उन सबमें ये तीनों गुण अवश्य, हैं, और इन्हीं के कारण उन में श्रेष्ठता मध्यमता और मिलनता है। इन तीनों की दृष्टि से ही निम्न लिखित वस्तुओं के तीन २ मेद हैं, अर्थात् सात्तिक, राजसिक और तामसिक:-भोजन-यज्ञ-तप-दान-श्रद्धा-त्याग-ज्ञान-कर्म-कर्ता चुद्धि-धृति-सुख-जाति आदि।

#### ( 388 )

## टिप्पणी ।

यह सप्रिक्रम, सांख्य और वेदान्त मतों के अनुसार है। सांख्यमत की प्रकृति का नाम ही माया है। सांख्यमत. प्रकृतिको जड कहने पर भी स्वयं कर्त्ता और स्वयंभ मानता है। वेटान्त का मत है कि प्रकृति स्वय कर्ता नहीं है। जब इसका अधिपाता ब्रह्म होता है, तबही यह संसार रचना कर सकती है-ब्रह्म के विना नहीं। केवल सांख्यमत मानने से यहशंका उठती है कि जड़ प्रकृति चैतन्य की सहायता के विना कैसे रचना कर सकती है। संख्य का पुरुष तो सर्वथा श्रकर्ता ही माना गया है, और यही कहा गया है कि प्रकृति, पुरुष के सामने, श्रपनी शक्ति से संसाररचना का तमाशा दिखाती है। गीता में इस शंका को दूर करने के लिये वेदान्तमता-जुसार, माया को ब्रह्म की एक अनिर्वचनीय शक्ति भानी है। अञ्चकरूप क्रोडकर व्यक्त रूपमें आनेकी किया का नाम योगहै, भौर वह शक्ति, जो इस किया का फल है, माया है, जिसे प्रकृति भी कहते हैं। सांख्य में प्रकृति के आठ भेद मुख्य माने हैं, अर्थात् श्रव्यक्त, बुद्धि, ब्रहुँकार और पाँच तत्मात्राएं-बाक्रीके १६ तत्व, विकार हैं। स्रष्टिकम इस तरह है; परन्त ' प्रकृति के एक रूपको अपरा कहा है और दूसरे को परा, जो सब भूतों की योनि है, जिसमें परमात्मा गर्भवीज धरता है और जिससे संसार की उत्तपत्ति होती है। यह स्टिक्रम गुराविकास बाद के अनुसार है, जिसको श्राज कल के पाश्चात्य घुरन्धर विज्ञानवेत्ता भी मानतेहैं। इस सृष्टिकम में कंणाद के परमाखुवाद का समावेश नहीं है ।

#### जीव।

ध. १५ को. ७,८ जीव, ईश्वर का झंश है और ध्रमादि श्रोर श्रमन्त है। वह प्रकृति में स्थित हो मनसहित सब इन्द्रियों का श्राकर्षण करता है।

> जव वह शरीर श्रहण करता श्रीर होड़ता है, तव इन सव इन्द्रियों को लेकर ऐसे ही निकल जाता है, जैसे कि वायु, सुगंधित-पुण्प वाटि-काश्रों से सुगंधि लेजाती है। कान, नेत्र, त्यक्, जिल्हा, 'नाक श्रीर मन; इन इन्द्रियों पर श्रधिकार कर वह

अ. १३ की. २१, २२ इन के विषयों को भोगता है। सुख दुःख भोगों का हेतु जीव ही है। वह प्रकृति में स्थित हो, प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का भोग करता है। इन गुणों के साथ संपर्क होने से उसे ब्रच्के दुरे जन्मों में जाना पड़ता है।

अ. १५ खे. ९

का. इ को. ४२ जीव, बुद्धि से परे हैं, बुद्धि, मन से परे हैं थ्रौर मन, का. र को. १२ इन्द्रियों से परे हैं। न कभी जीव का जन्म हुआ है " " १३ और न कभी उस की मृत्यु होगी। जैसे शरीर में वैठ कर वह कौमार, यौवन धौर बुद्ध अवस्था को भोगता है, वैसे ही शरीर कोड़ने पर वह दूसरी

" १६ देह में चला जाता है। जिन शरीरों को जीव धारण करता, ने नाशमान हैं: परंतु वह स्वयं ध्रवनाशी,

नित्य भ्रौर धप्रेमय है। न वह जन्म लेता है, न मरता है, न होकर कभी नहीं होताहै। वह ध्रजन्मा, नित्य, श्रविनाशी भ्रौर सनातन है। संसार का नाश

" २२ होने से उसका नाश नहीं होता है। जैसे मनुष्य, पुराने कपड़े फेंक नये कपड़े पहरता है, वैसे ही जीव, पुराने शरीरों को क्लोड़ नये शरीर धारण करता है। म उसे शस्त्र काट सकते हैं, न भ्रान्त जला सकती है, व. २ थे. २३ म जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकती है। वह थच्छेद्य, अव्हाह्य, अक्रेट्य और अशोष्य है। " " २४ वह सनातन, सर्वगामी और भ्रवाच्य है। शरीर में रहते हुये भी जीव अवाच्य है, सुख से रहता " " ३० है, म कुछ करता है और कुछ कराता है। अ. ४ थे. १३ सव काम प्रकृतिके गुण हैं। अहंकार से भ्रोखा व. ३ थे. २७ खाकर मजुष्य कहता है कि मैं करता हं; परन्तु " " २८ वास्तव में जो कुछ होता है, वह गुण ही करते हैं। गुणों में प्रजृति गुणही कराते हैं और वेही विचरते हैं। खब काम अकृति का ही है; जीव निष्कर्म है। ब. १३ थे. २० ध्रक्षानी मजुष्यों को यह नहीं मालूम है कि जीव, गुणों व. १५ थे. १०, ११ के कारण कव जाता है, कव रहता है और कव भोग करता है; परन्तु पंडित और बुद्धिमान मजुष्य इस वात को जानते हैं।

टिप्पणी

गीता का जीवविचार न्यायवेशेषिक के मत को लेता हुआ वेदान्त सिद्धान्तों से मिलगया है । जीव के जो जन्मण कहे हैं, वे न्यायवेशेषिक मत से मिलते हैं, त्रिन्त न्याय का अनेक जीव होनेका सिद्धान्त नहीं दिखाई देता है; क्यों कि यह कहा गया है कि ब्रह्म के एक अंश से सब जीव हैं। इससे सब जीवों की एकता और ब्रह्मकी एकता का लन्न होता है। यह वेदान्त मत है। वेदान्त मतानुसार, जो जन्मण न्याय और वैशेषिक जीव के हैं, सून्म शरीर के हैं, जो आत्मा के ऊपर एक माया का खोज है। यह जीव वार २ जन्म लेता है और इच्छा राग हेवादि विषयोंका स्थान है।

#### परमात्मा ।

ब, १५ हो. १६ संसार में दो पुरुष हैं, एक त्तर, दृसरा अत्तर। जितनी चीजें प्रकृति की वनी हैं, सब चर हैं, ' श्रर्थात् नाशमान हैं, श्रीर जीव श्रज्ञर है। परन्तु एक ,, १७ इन से भी श्रेष्ट पुरुष है, जो पुरुषोत्तम कहलाता है। वह अनादि. अनन्त, चराचर का पोषण करने वाला तीनो लोक में न्यान है। अ. १३ थी. २३ वही उपद्या-ब्रानुमन्ता-भर्ता-भोक्ता धौर महेश्वर है। वही परमात्मा है भौर इस शरीर का पुरुप है। ब. ५ स्रो. १४ वही संसार का प्रभु है। वह, न कर्तृत्व, न कर्म श्रौर न कर्मफल से सम्बन्ध रखता है। ये सब प्रकृतिस्वभाव से ही होते हैं। उसे पाप श्रौर पराय से सम्बन्ध नहीं है। वह सर्व लोकों का १५ महेश्वर है और सव भूतों का सुहृद है। सव का ল. ও হঠা. হ म्रादि कारण है। उस से वड़ा कोई नहीं है। जैसे स्त्र में मोती विधे हैं, वैसे ही यह सब का छाधार अ. ७ হন্যे, ८ है। वह जल का जलत्व है। सूर्य चन्द्र का प्रकाश है। वेदों का पवित्र शब्द 🤲 है। आकाश का गुर्ग, शब्द, वही है। मनुप्यों का मनुप्यत्व वही है। पृथिवी \*\* का गुर्ण, गंघ, श्रानिका गुर्ण, तेज, वही है । सर्व जीवों का प्राधार और तपस्वियों का तप वही है। बुद्धि-" मानों की बुद्धि, प्रतापियों का प्रताप, चलवानों का ११ 93 वल, इच्छाद्वेप से रहित मनुष्यों की इच्छा, वही है। 'उसी से सत्त्व-रज-तम भावों की सत्ता है<sub>।</sub> प्रस्तु

१२

वह इनमें नहीं है । प्रकानी मनुष्य, उस प्राध्यक के ७३० २४ को व्यक्त समस्तते है। प्रपनी योगमाया में छिपारहने " " २५ से वह दिखाई नहीं देता है। मृत, भविष्यत् भांवों " " २६ के सब जीवों को जानता है; परन्तु उसे कोई नहीं जानता है। यह सब देव, सब भूत श्रीर सब यहों " " ३० का श्राधिशता है।

उस अन्यय अन्यक्त ब्रह्म का लक्त्या, आत्मकान है। अ. ८ छे. ३ उसका असररूप पुरुप है और सररूप प्रकृति है। " " ४ वह सनातन है, सर्वज्ञ है, संसार का ईश है। सत्म से " " सत्म है। सब का आधार है। अन्यक्त प्रकृति से ऊंचा 🥡 है. अनन्त है, संसार के नाश होने से उस का नाश नहीं होता है। जैसे सब वायका ग्राधार ग्राकाश कर थे। ६ ंहे. वैसेही सब जीवों का ग्राधार, ईश्वर है । ताप े उसी से है, वर्षा उसी से है। जीवन, मृत्यू, सत् , अ ८ क्षे १९ श्रसत , सव वही है । सव जीवों के श्रादि, श्रंत म १० छो २० धौर मध्य में स्थित है। सब देवताओं में धौर सव चर श्रचर जीवों में, जो कुछ श्रेष्टता, प्रभाव थौर उत्तमता है, सब उसी की है। उसके सर्वत्र हाथ, पैर, नेत्र शिर और मुख हैं। हानेन्द्रियां उसी अ १३ छ। १४ से काम करती हैं। परन्तु वह इन्द्रियां नहीं है। वह 🤫 निग्रेण है। वह पासभी है और दूरभी है। सूच्म होने " १६ से प्राप्ति का विषय नहीं है। श्रखंड होने परमी सव 🧳 जीवों में प्रथक २ वर्तमान है। सब के हृदय में स्थित है। शान, शाता श्रेय, सब वही है । वह स्वयं कुछ नहीं भ १३ रेले २८ करता है, श्रोर न उसे करमों का फल होता है। " " ३२

्यह सव कर्म गुणों से होते हैं। जैसे सर्वव्यापी a. ਵੇਲੇਂ। ਵੇਵ श्राकाश श्रपनी सहमता के कारण किसी वस्तु से मिलन नहीं होता है, वैसेही वह सर्वव्यापी होने पर किसी से नहीं मिलता है। जैसे एक सूर्य सब संसार को प्रकाश देताहै, बेसेही वह ॥ इ४ एक सर्व ब्रह्मागुडों का प्रकाश करने वाला है। प्रथिवी तत्त्व में व्यापक होने से सब भूतों को जीव दान देता અ. १५ શૉ. १३ है। सोमरूप होकर सव वनस्पतियों का पोपण करता है। अग्निरूप होकर सव प्राणियों का प्राण है। ্য, १४ जठराग्नि होकर सद ग्रन्न को पचाता है। जब અ. ૪ જો. હ अवं धर्म की ग्लानि होती है और ध्रसत्य छौर श्रथर्म का प्रभाव बढ़ता है, तव २ श्रवतार लेकर धर्म स्थापन करता है। चारों जातियां, .. ₹₹ 99 गुग धौर कर्म, उसी के द्वारा उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वह स्वयं कर्मरहित है, तथापि यह सन कुक उसी के प्रभाव से है। यह न कर्म करता है ., **१**४ भ्यौर न उसे कर्म का फल लगता है।

### टिप्पणी।

गीता में परमात्मा के अन्यक और न्यक, प्रार्थात् निर्मुण और समुण दोनों रूप माने हैं। वेदान्त के निर्मुण ब्रह्म को भी माना है और न्याय के समुण ईर्वर को भी माना है। इस परमात्मारूपवर्णन में दोनों रूप धागये हैं। शान मार्ग और भक्तिमार्गवालों के लिये गीता का परमात्मा पकसाही सन्तोषदायक है। द्वेत और अद्वेत दोनों मतवालों के लिये इसमें परमात्मा है। किसी मतवाले को विवाद करने की श्रावश्यकता नहीं है

## ज्यातमा ज्योर परमातमा का सम्बन्ध

गीता के १६ वें ब्राच्याय के ७ स्होक से, तथा ' १३ वें ब्राच्याय के १७ स्होक से यह सम्यन्ध इस प्रकार ज्ञात होता है।

मसैवांशो जौवलाकी जीवसृतःसनातनः। अ. १५ अ. ७

श्चर्य — जीवलोक में मेरा एक श्चंश जीव का रूप होता है। वह सनातन है।

श्रविभन्नं च भृतेषु विभन्नमिव च व ११ ४% १७ स्थितम् । भूतभर्षृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्ण प्रभविष्णुच ॥

स्पर्धे स्वयं भागरहित है, प्रार्थात् उसके भाग नहीं हो सकते हैं, तथापि सब प्राणिभूतों में प्रात्म २ श्थित है। उसे सब प्राणियों का भर्चा जानो । वही भोजन करता है ग्रीर वही उत्पन्न करता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा और ब्रह्म में कोई मेद् .नहीं है। आत्मा, ब्रह्म का ही एक अंश है; परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि ब्रह्म के माग हो सकते हैं। पृथक्ता केवल देखनेमांत्र ही है। वह अझान से दिखाई देती है। आकाश सर्वव्यापी है और उसके भाग नहीं हो सकते हैं, तथापि पृथक् २ वस्तुओं में रहने से विभक्त दिखाई देता है, जैसे, जो आकाश एक घट में घ्यास है, वह दूसरे घट के आकाश से पृथक् दिखाई देता है; परन्तु वास्तव में पृथक् नहीं है। सब एकही है। इसी प्रकार जीव पृथक् २ दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तव में सब एकही हैं। इन सब जीवों को समिष्टिए से देखा जाय, तो ब्रह्म है, और ब्यप्टिए से देखा जाय, तो व्यक्त हैं। होनों ही वास्तव में कर्म से रहित हैं। गुणों के कारण कर्म करते दिखाई देते हैं। सब कर्म, गुण ही करते हैं। जब जीवका संपर्क गुणों के साथ होता है, तब उसे जन्म मरण के बन्धन लगते हैं।

## परमपद ( मोक्षं)

 ४८ थे. ५६, ६२ यह ग्रह्यय श्रीर शाश्वत शान्ति और ब्रह्म के निरन्तर श्रमृतरूपी धर्म श्रीर सुख का स्थान है। मृतुष्य, जन्म, ब. १४ क्षे २७, २० मृत्यु, जरा, दुःख, पाप, कर्म वन्धन और उन के झच्छे बुरे फल श्रौर माया के प्रपंच से कुटकर इस श्रवस्थामें होकर परमात्मा में प्रवेश करता है-उसी में लय हो जाता है, জ. 🗷 হী , १४ ष्ट्रर्थात निर्वाण प्राप्त करता है, जो ज्ञानकी चरम सीमा छ. २ हो. ७२ अ. ८ की. १**०** है, और वह परम और अनन्त असृतरूपी सुख शास करता है। इसे प्राप्त कर वह फिर इस नाशमान श्रीर दुःख-वा. ८ वली. १५ पूर्ण संसार में नहीं घ्राता है। यह परमपद पेसा स्थान हैं, जहां न सूर्य, न चन्द्र, न तारागण और न अनि ' स. १५ इला, ६ पहुंच सकते हैं।

## टिप्पणी

परमपद्का वर्णन ऐसा है कि जिसमें वेदान्त, सांख्य, न्यायादि दर्शनों के मोस्ररूपका ध्यादर्श ध्यागया है। सव मतवाले ध्यपने विचारों के ध्यनुसार इस परमपद को कह सकते हैं। निर्वाण, कैवल्य, ध्यपवर्गादि, सभी का सार इसमें ध्यागया है।

## परमपद्रप्राप्ति का मार्ग।

लगाओ। तुम निश्चय ही इस जन्म के पीछे मुक्त मं प्रवेश होकर रहांगो । यदि सुक्तमें दृढता से चित्त " नहीं लगा सकते हो, तो योग के अभ्यास से भेरे पास आने की चेष्टा करो। यदि यह अभ्यास भी 🤊 ,, 20 नहीं कर सकते हो, तो सत्कर्मपरायण हो कर सव कर्म मेरे निमित्त ही करो । यदि इसके करने " " ११ की भी सामर्थ्य न हो, तो अपने को यतेन्द्रिय बनाकर धौर मेरी शरण लेकर सब कामों के फलों की त्याग करदो। योगग्रभ्यास से ज्ञान बहकर है। ज्ञान से ध्यान " " १२ वढकर है। ध्यान से कर्म फलों का त्याग वडा है। त्याग से ही निरन्तर शान्ति होती है। कोई, ध्यान द्वारा आत्मा से आत्मा में आत्मा को अ. १३ शे २४ देखते हैं; कोई, सांख्य योग से श्रौर कोई, कर्म योग से । जिन्हें यह वात नहीं मालूंम है और " "

मुक्त में ही मन लगायो । मुक्त में ही बुद्धि अ १२ थे. ८

दूसरों से सुनकर ही उपासना करते हैं, वे भी मृत्यु के पार होजाते हैं।

## टिप्पणी ।

इन महत्त्वशाली वाक्यों के पढ़ने से माल्म होता है कि मोत्तपाति के लिये श्रीकृष्ण सभी मार्गों को उपयोगी समस्तते हैं। किसी मार्ग की निन्दा नहीं करते हैं, श्रीर न किसी मार्ग की श्रातिशय प्रशंसा करते हैं।

तथापि सब में सरज मार्ग निष्काम कर्म करनाही बताया है। इच्छा से कर्मों के फलों को त्याग करदेना ही, त्याग है, न कि कर्म त्याग करदेना। इसी त्याग को निरन्तरशांति का साधन बताया है। इस से यह अभिप्राय नहीं है कि ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्गादि धाच्छे साधन नहीं हैं, किन्तु यह कि कर्ममार्ग सबमें सरज है और उसके करने में मनुष्यों को वैसी कठिनाइयां नहीं हैं, जैसी दूसरे मार्गों के साधन में हैं।

### कर्म। '-

स. इ.क्षे. ४

यदि मनुष्य चाहे कि मैं कर्म को विलक्कल नहीं करूं, तो प्रसम्भव है; क्यों कि स्वभाव, गुगों से प्रेरित होकर, उसे कुळ न कुळ, कर्म कराता ही है। कर्म करने वाले, केवल प्रकृति के गुण ही है। प्रहंकार से घोका खाकर मनुष्य कहता है कि मैं करता हूं; परन्तु वास्तव में गुण हीं करते हैं, जीव नहीं।

n n ३३

क्षानवान् मनुष्यः भी स्वभाव के ध्रमुसार ही कर्म करते हैं। स्वभाव का ध्रमुसरण ही सवजीव करते हैं। इसिलिए स्वभाव की प्रतिरोधता करना निर्यक है।

कर्मों के पांच कारण हैं: १ शरीर २ कर्ता ३ पृथक् २ अ. १८ की १३ विधि की चेष्टायें ४ इन्द्रियां और ४ दैव अर्थात उन का अधिष्टाता देवता। जो कुछ भी कर्म. मनुष्य,शरीर,वाणी श्रथवा मन से करता है, यह कर्म थ्रच्छा हो या बुरा, उसके ये ही पांच हेत हैं। जो " ₹₹ कहता है कि कर्मी की करने वाली श्रात्मा है, वह " दर्मति है और अजान है। कर्म को प्रेरणा करने धाले तीन कारण हैं, प्रश्नीत ज्ञान, ह्रेय और ज्ञाता। कर्म के तीन संगी हैं, ग्रार्थात करण ( इन्द्रियां ) कर्म और कर्ता। ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुण " १९ भेद से तीन प्रकार के हैं। जो नियतकर्म, कर्मफल की इच्छा, राग द्वेष और " ₹₹ मोह क्रोड कर किया जाता है, यह सास्त्रिक है जो कर्म कामना से, ग्रहंकार से, ग्रथवा बहुत " 28 प्रियास से किया जाता है, वह राजसी है। जो कर्म मोह से किया जाय और जिस में यह विचार नहीं रहे " कि यह दूसरों को हानि दायक है और इसका धनचित फल होगा और धपने समर्थ्य से भी वाहर है, वह तामसी है।

### टिप्पणी।

कर्मविचार सांख्यमत प्रधान है। कर्म करना प्रकृति के गुणों का कार्य है। केवल अहंकार के कारण उनमें ममत्व हो जाता है। शुद्ध-चित्, नित्य, मुक्त आत्मा, कर्म नहीं करती है, विक प्रकृति से वनाहुआ सुक्मशरीर ही कर्म करता है। इसमें शहंकार बंधन कराने वाला है। प्रकृति में सत्त्व, रज श्रौर तम, तीन गुण हैं। इसं लिये सव कर्म तीन प्रकार के होसकते हैं। इनमें सात्त्विक कर्म श्रेष्ट है। कर्मों का चक्कर रजो गुण से उठता है, जो कामको उत्पन्न करता है। यह काम सवको मोह में डालता है श्रौर उसी से कर्म की उत्पत्ति होती है।

### कर्ता।

લ. १८ છે. રા

जो कर्ता संग धौर धहंकार रहित, धृति धौर उत्साह संयुक्त है और सिद्धि धौर ध्रसिद्धि में निर्विकार है, वह सास्विक है। जो कर्ता रोगी, कर्म फलों की इंच्छा रखने वाला, लोगी, हिंसात्मक, ध्रशौची धौर हर्प शोक संयुक्त है, वह राजसी है।

जो कर्ता घ्रयुक्त ध्रयात् द्यनिश्चित, प्राक्तत प्रयात् सामान्य, जिद्दी, शठ, द्वेपी, घ्रालसी, विपादी, दीघ्र-सूत्री घ्रर्थात् टालाटूली करने वाला है, वह तामसी है।

#### ज्ञान।

अ. १⊏ इक्षे। २०

बह ज्ञान, जिससे सब पृथक् २ जीवों में एक झब्यय अविभक्त ब्रह्म एक भाव से दिखाई दे, सात्त्विक है। ( अद्वैत )

,, ,, <del>2</del>8

वह ज्ञान, जिससे सव जीवों में पृथक् २ भाव पृथक् २ दिखाई हें, राजसी है। (हैत)

,, ,, <del>२</del>२

नह ज्ञान, जिससे कारण और सत्यता जाने विना ही मनुष्य किसी चीज को पूरी समक्तता है और जो अस्प है, तामसी है। (चारवाक) जो अहंकार का अश्रय लेकर यह कहे कि मैं पैसा करूंगा, उसका व्यवसाय मिथ्या है; क्योंकि उससे वह काम, प्रकृति स्वयं करवालेगी। मोहवश होकर कोई किसी काम को नहीं भी करना चाहे, तबभी स्वभाव कमें से वंधे होने के कारण उसे वह काम करना ही पड़ता है। आत्मा न स्वयं कर्चा है और न कर्म कर ने वाला है। जो कुळ कर्म होता है, उस का कर्चा स्वभाव (प्रकृति) ही है। जो, गुणकर्मविमाग को जानता है और यह जानता है कि गुण गुणों में ही विचरते हैं, वह मोहबश नहीं होता है और तस्ववेत्ता कहलाता है, परन्तु, जो यह वात नहीं जानता है, वह सक्तानी है।

#### **अ. १८%। ५९** ..

,

a. *५ છે*ો. १३, १४

अ. ३ हो. २८**, २**९

## पाप कैसे होता है।

काम धौर कोध, रजोगुण से उत्तपन्नहोते हैं धौर संसार में वहे शत्र हैं। इन्हों के कारण पाप का बीज लगता है। जैसे ध्रिन को धूंधा घेरे हुये हैं, जैसे द्र्यण को मल घेरे हुये हैं, जैसे व्र्यण को मल घेरे हुये हैं, जैसे गर्भ को उत्व घेरे हुये हैं, वैसे ही रजोगुण को काम कोध घेरे हुये हैं। यह निरन्तर शत्र, क्षान को दककर कामरूप में हो जाता है धौर जैसे ध्रिन की तृप्ति नहीं होती, वैसेही इस काम की। काम, इन्द्रियां, मन धौर बुद्धि में स्थित हो जाता है। इन्द्रियां, सब बान को डककर जीव को मोह में डाल देती हैं। इसलिये इन्द्रियांदि को पहले ही वश में करना चाहिए। इससे पाप उत्पन्न करने वाली वस्तु, जो बान विद्यान का नाश करती है, नए हो जायगी।

अ. ३ हो. ३७, ३८

. . 76

, ,, Yo

" " &<u>{</u>

#### ( tk2 )

ज. २ थे. ६२, जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों पर ध्यान करता है, तब उस को उन्हीं के साथ सक्त उत्पन्न हो जाता है। इस सक्त से काम उत्पन्न होता है, काम से कोध उत्पन्न ,, ,, ६३ होता है, कोध से मोह होता है, मोह से स्मृतिविभ्रम होता है, स्मृतिविभ्रम से बुद्धि का नाश होता है थ्रोर बुद्धिनाश से सर्व नाश हो जाता है।

" ५६ जो ग्रात्मा को वश करके और रागद्वेप छोड़ कर इन्द्रियविषयों में भ्रमण करता है, वह शन्ति प्राप्त करता है।

### कर्मयोग।

इन्द्रियों को मन से वशीभृत कर धौर कम्मेंन्द्रियों म. ३ हो. ७ पर श्रधिकार कर जो कर्म किया जाता है. उस का नाम कर्म योग है। जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों को तो वश में कर जेता है: परन्त मन से इन्टियों के विषयों को स्मर्ण करता रहता है: वह विमुद्धात्मा धौर मिध्याचारी है, कर्मयोगी नहीं। पहले इन्द्रियां हैं, फिर मन, फिर बुद्धि, फिर श्रातमा। इस्रतिये पहले इन्द्रियों कों घणमें करना चाहिये। Y? श्रात्मा को वृद्धि से परे जान और मनादि इन्द्रियों को 83 जीत, कामक्षप महाशञ्ज को जीतना चाहिए। स, २ छो. ४८ इन्द्रियविषय सङ्घ त्यागकर, योगस्य हो श्रोर सिद्धि श्रसिदि में सम हो. कर्म करना चाहिये। इस समत्व का नाम ही योग है । जिस मनुष्य का इन्द्रिय-भ. ४ छो. २३ विषयसङ्ग जाता रहा है: जिसका चित्त झान अवस्था . में स्थित हो गया है, जिसके कर्म यन समान हैं. उसके सव कर्मी का लोप हो जाता है। जो श्रहंकाररहित य. १८ हो. १७ है, जिसकी युद्धि लिप्त नहीं टुई है. वह कर्मों से नहीं अ. ४ हेंग. १० वंधता है। जो मनुष्य इन्द्रिय-विषय-सङ्कृत्यागकर सद ध्यपने कर्मों को ईश्वर के घर्षण करता है, वह, जैसे कमल का पत्र जल में रहते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता है. वेसे पाप से लिम नहीं होता है। योगी अ. ४ हो. ११ जोग इन्द्रिय-विषय-सङ्ग त्यागकर केवल भारमाश्रद्धि के लिये काय, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से कामकरते हैं। स. ४ हो. १२ जो कर्म-फल को त्यागकर कर्म करता है, वह शानित प्राप्त करता है ख्रोर जो काम से प्रेरित हो कर्मफल चाहता हुआ कर्म करता है, वह धंधन में पहता है। छा. ९ इत्री. २७ इसलिये जो कुछ भी किया जाय, जो कुछ भी खाया जाय. दिया जाय. तप किया जाय. यह सब ईश्वर के अ. ६ इलें। १ धर्षण करकेही करना चाहिये। जो मनुष्य ध्रपने कर्मी को ईश्वर के प्रर्थ ही करता है और फलकी कामना त्याग देता है, वही वास्तव में योगी और सन्यासी है। फ्योंकि कर्मों को त्याग करने से कर्मों का इस तरह अ. ३ इक्रो. २५ करना प्रच्छा है। मूर्खलोग कर्मों को फल की कामना से करते हैं, परन्त शानवान मनस्य इस कामना को होड केवल लोकपरोपकार के लिये ही कर्म करते हैं। म. २ इले. ४७ हमारा श्रधिकार कम करने पर ही है, न कि उसके फल की इच्छा पर। इसलिए हमारे कर्म करने का हेत कर्म फल की कामना नहीं होनी चाहिए छौरन अकर्म में ही प्रवृति होनी चाहिये। श्रपना नियत कर्म करने से ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त स. १८ श्लो ४५. ४६

होती है। ऐसे कर्म को फलकामनारहित करने से ही ईश्वर की पूजा और आराधना होती है। इसी से अ. ३ इली. १९ परमपद प्राप्त होता है। कर्मों के करने वाले प्रकृति के तीनो गुण ही हैं, न कि श्रात्मा । मृद्ध कहते हैं कि हम कर्म करते हैं; परन्तु करने वाले तो वास्तव में गुण्हीं हैं, २९ थ. ४ इखे. १८ न कि जीव। जो ज्ञानवान् हैं, वे के मको अकर्म जानते हैं ग्रौर ग्रकर्म को कर्म । वे कर्म फल को त्यागकर 20 निरन्तर सुखी रहते हैं । वे फिर कोई धाशा नहीं 38 रखते, निर्द्धिन्द और सिद्धि ग्रसिद्धि में एकसे रहते हैं। इन्हें कर्मी का वन्धन नहीं होता है। 22 यदि कोई चाहे कि मैं कर्म सर्वधात्याग हूं, तो होनहीं ल, ३ क्ली. ८ सकता है; क्योंकि कर्म किए विना शरीर भी नहीं रह सकता है। कमों का त्याग करना धलम्मव है। ध्रौर उनके त्यागकरने से उनसे छुटकारा भी नहीं हो सकता है; क्योंकि प्राकृतिक गुणों के कारण मनुष्य स्वयं कर्म करने को प्रेरित होता है। क्रमों का वन्धन तभी होता है जब कर्म स्वार्थ छौर 22 फल कामना से, किये जायं। यदि ईश्वर के अर्थ फल कामना त्यागकर कियेजाय. तो वंधन नहीं होता है। इसलिए अपने नियते कर्म इस भावसे भ, २ इते। ३४ ध्यवंश्य करने चाहिये । दूसरे का कर्म तुम्हारे कर्म से अच्छा भी दिखाई दे, भी अपना ही कर्म करना चाहिये।

म. १८ रहें। ४८, ४७ जैसे श्रानि में धूशां वास करताहें, वैसेही सब कमों में दोष भी मिले रहते हैं: इसलिये अपना कर्म बुरा

सम्भं कर नहीं छोड़ देना चाहिए । और दूसरै की कर्म निर्दोप समक्त कर भी नहीं करना चाहिये। इसमें हानि होती है। श्रयना कर्म करने में पाप नहीं होता है। कर्म करने से ही जनकादि महान पुरुषों की सिद्धि क, इ श्ली, इंट प्राप्त हुई है। यदि ऐसी अवस्थापर पहुंच जाय कि उसे कर्म करने की श्रावश्यकता नहीं रही है. तबभी कर्म करना त्याग नहीं करना चाहिए: क्योंकि वडों का ध्रनुसरण सवही करते हैं। श्रीक्रमण को कर्म करने को श्रावश्यकता नहीं थी; परन्तु संसार मर्यादा, रखने को वह कर्म करते रहे। यदि वह कर्म नहीं करते, तो संसार में धर्म का लोप हो जाता ध्यौर सब तरह की ब्रापत्तियां , ब्राजातीं । यदि सामान्य मनुष्य फल इच्छासे ही कर्म करते है, तव भी शानवानों को उन्हें कर्म करने से अरुचि नहीं दिलानी चाहिए। ध्यपने कर्म ईश्वरहेतु करते हुये उन्हे उपदेश देना चाहिये। चारों जातियों के कर्म उनके गुरा स्वभाव से इस अ. १८ इली. ४१ तरह कहे हैं:--ब्राह्मण्-शम-दम-तप-शौच-ज्ञान्ति-ब्रार्जब-ज्ञान-.विज्ञान-ग्रास्तिकताः ये ब्राह्मणों का स्वभा-विक कर्म हैं। · चत्रिय—शौर्य-तेज-धृति-दास्य-युद्धसे नहीं भागना-दान-ईश्वरभावः ये त्तत्रियों का स्वभाविक कर्म है। वैश्य-- रूषि-गोरत्ता-वाणिज्यः ये वैश्यों का स्वभाविक कर्म है। शृद्र-दूसरों की परिचर्या करना; यह शृद्धों का स्वभाविक कर्म है।

<b>-1.</b>	१⊏ इले	i. <b>હ</b>	नियतं कर्स करने चाहिथे; क्योंकि इनका त्याग
73	19	4	करना श्रच्छा नहीं है । यश-दान-तपादि सर्वदा
			ही, करने चाहिये; क्योंकि इनसे घातमा की शुद्धि
"	n	•	होती है। परन्तु इनके करने में फलकामना त्याग
			करदेनी चाहिये।
,,	,,	<b>₹</b> ₹	कर्मत्याग नहीं, विक कर्मफलत्याग ही सदाचार
			ध्रौर धर्माचरण का रहस्य है।
37	9.7	ı	मोहसे नियतकर्मी को क्रोड़देना, तामसी त्याग है।
,,	19	c	शारीरिक दुखों के करण इन्हे छोड़देना, राजसी त्याग
,,	,,	8	है। जो मनुष्य नियतकर्मों को श्रावश्यक समभ कर उन्हें
			वरावर करते रहते हैं; परन्तु कर्मफलकामना छोड़
			देते हैं,उनका ही त्याग सात्त्विक है।
••	, ,,	' १०	कर्म रोचकं हो अथवा अरोचक, उसे नियत कर्म
			समक्तकर श्रवंश्य करना चाहिये।
			गुणों के कारण कर्ता और कर्म के तीन भेद हैं:—
91	11	2,8	जो कर्म, राग-द्वेष, इन्द्रिय विषय सङ्ग ध्रौर फ्लकामना
77	,,	<b></b> \$8	छोड़कर किया जाता है, वह सात्त्विक है। जो
			कर्म अहंकार-कामना अथवा वहुत प्रयास- से किया
77	,.	<b>3</b> 4.	जाता है, वह राजसी है। जो कर्म अपने पौरुष की
			सीमा छोड़ कर दूसरों को हिंसा अथवा चय कारी
		•	हो श्रौर मोह से किया जाय, वह तामसी है।
"	22	₹€	इसी प्रकार सारिवक कर्ता वह है, जो इन्द्रियार्थसङ
			्थ्रौर ग्रंहंकार क्रोड़कर घृति ध्रौर उत्साहसहित
		•	होकर और सिद्धि श्रसिद्धि में निर्विकार रहकर कर्म
			करता है।

जो कर्म करने वाला रोगी है, कर्मफल की कासना करता है, लुव्ध है, अशुचिहे, हिन्सातमक हे और हर्प शोक युक्त है, वह राजोगुणवाला है। जो कर्म करने वाला अशुक्त है, प्रकृत है, स्तब्ध हे, शठ है, नेप्कृतिक है, आलसी है, विपादी हे, दीर्घसूत्री है, वह तामोगुणवाला है। सात्त्रिक कर्म करना और सात्त्रिक कर्ता होना, कर्मयोग का मुख्योहेश है।

### टिप्पणी ।

कर्मयोग से ध्यभिप्राय कर्मकाग्रङसम्बन्धी कर्म जैसे यहायागादि करना नहीं है। इन कर्मी के करने की मनाई नहीं है, वर्टिक जो २ जिस जाति का कर्म हो सभी करने चाहियें। गीता के कर्मयोग का प्रभिप्राय यह है कि जो कुछ भी नियत कर्म हो उसको साम्य बुद्धि से और फलकामना छोडकर करना चाहिये। निफामकर्म करने पर गीतामें जो जोर दिया गया है वह झौर किसी धंर्मग्रन्थ में नहीं पाया जाता है। यह वात गीता की श्रपृब्वता को वताती है। मान्यवर तिलक ने गीतारहस्य में कर्मयोग को ही गीता का मुख्योहेश माना है और वही विद्वत्तासे वर्ताया है कि अर्जुन को गीता सुनाने का अभिप्राय यही था। इस के साथ यहभी कहां है कि कर्मयोगविषय, गीता में नया नहीं है; किन्त प्राचीन भागवतधर्म के आधार परीह । गीता की परंपरा को देखाजांच, तो भागवतधर्म ही इसका स्रोत प्रमाणित होता है। भागवतधर्म के प्राचीन कर्मयोगोपदेश को गीता में श्रीकृष्ण ने नये ढंगपर वताया है।

થા**. १**८ છો. ૨૭

99 99 RC

इस में कोई सन्देह नहीं कि गीता का कर्मयोग विलंक्त्या है, और किल्युग में इससे उत्हब्द धर्म का और कोई मार्ग नहीं है। इस उपदेश के धाधार पर राष्ट्रीय सामाजिक धादि सभी उन्नातियां हो सकतीहैं। श्रीकृष्ण जी. ने ज्ञानमार्ग-भक्तिमार्ग-योगमार्ग-कर्म-काण्ड मार्ग अथथा सभी मार्गों को इस निष्काम कर्म-योग मार्ग से मिला दिया है।

# ईइवर पूजन के मिन्न २ मार्ग।

લા રક્ષો. ૪૨, ૪૪

कुछ मनुष्य पेले हैं जो वेदों के घलंकारयुक्त व्याक्यों में ही मन हैं। वेद के एक २ ध्रक्षर पर वाद विवाद करने में जगे हुये हैं। इनकी कामना स्वर्गप्राप्ति की ही है। ये कर्मफल की इच्छा रखते हैं, और मुख और पेश्वर्थ प्राप्ति के छिये बहुत कियायें करते हैं। ये थौनिक समाधि का लेखन नहीं करते और उनकी बुद्धि व्यवसायात्मका है। ये जोग यह करके ईश्वर की पूजा करते हैं और स्वर्ग जाने कीही कामना रखते हैं। वे स्वर्ग पहुँचकर स्वर्ग का मोग करते हैं और जब उनके पुण्य क्य होजाते हैं, तो इस मृत्युलोक में फिर आते हैं। इस तरह काम की कामना करने वाले केवल गतागत पद कोही प्राप्त होते हैं ध्रथींच् निरन्तर मोक्तपद नहीं प्राप्त करते हैं। वेदविषय त्रिगुण सम्बन्धी है, श्रीर उससे गुण सम्बन्धी है, श्रीर उससे गुण सम्बन्धी है,

थ. ९ खे. २०

» i, ₹१

અ. ૨ શો. ૪૫

होतीहैं। इसिलिये निस्त्रेगुयय, निर्हन्द्व नित्यसस्वस्थ निर्योगक्षम और आस्प्रवान होना चाहिये। पेसे मनुष्य को वेदिक्रियाएं ऐसी ही निरर्धक हैं, म.२ इजे. ४६ जैसे जलव्याप्तस्थान में जलाशय।

#### यज्ञ

सृष्टि के ध्रादि में जब मनुष्य जाति रची गई प्रजा-स. ३ इले, १० पति ने यक को उत्पन्न किया और आजा करी कि मंतुष्य को सुख सम्पत्ति बढाने के लिए यह सदैव करना आवश्यक है। मनुष्य को देवताओं के लिये यह \$8 करना चाहिए। देवता मनुष्यों की मनः कामनाएं पूर्ण करते हैं । देवताओं को यह देने के पश्चात् भोजन करना चाहिये। सब सुष्टि अन्न से होती है, अन्न वर्षा अ. ३ हो. १४ से होता है। वर्षा यह से होती है। यह, कर्म से होता है। कर्म, ब्रह्मा से होता है ग्रीर ब्रह्मा अव्यय ब्रह्म से होता है; इसिंखये यह में ब्रह्म सदैव विद्यमान रहता है। यज्ञ बहुत प्रकार की हैं:--कोई ब्रह्म की प्रशिन में हवत करने से यह करते हैं। ब. ४ हो , २५ कोई यम ब्रादि अग्नि में इन्द्रियों को हचन करने से यह करते है । कोई इन्द्रियों रूपी अग्नि में विषयों को हवन करने से यझ करते हैं। कोई आत्म दमन से प्राप्त, योगरूपी आग्न में इन्द्रियों के विषय और प्राण की हवन करने से यज्ञ करते हैं। कोई धनकपी, कोई तपरूपी, कोई इठ योगरूपी, कोई स्वाध्याय श्रीर ज्ञानकृषी यह करते हैं श्रीर मन को वश में करते हैं और दढ़वत होते हैं।

લ, ૪ શે. રહ

कोई प्राण को अपान में, श्रपान को प्राण में लगाते हुये और प्राण श्रीर श्रपान के मार्ग को रोकते हुये प्राणा याम में मन्न हो यज्ञ करते हैं।

છ છે. ૧ કે છે. આ ૧ સ્ટો. ૧૪ कोई नियताहारी हो स्वासों को स्वासों में डालते हुये यद्म करते हैं। कोई दानरूपी यद्म करते हैं। कोई ईस्वर को एक और अनेक सर्वत्र विद्यमान जानते हुए पूजते

**म.** ४ इलो. ३२

हैं। इस प्रकार ईश्वर के हेतु अनेक यदा किये जाते हैं। इन सब की उरपत्ति कम्भे हो से है। जो ब्रह्म को ही अग्नि,

थ. ६ इले।. १६

होता, श्ररुणी सर्थात् इवनकी सव सामग्री जान कर,

छ**. १२ छों.** ३

 ब्रह्म में ही आत्मा को दिवन करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। कोई जितेन्द्रिय हो असर अव्यक्त ब्रह्म को पुजते हैं।

, 23 g

वे भी उसी पद को प्राप्त करते हैं । कोई सब कामों

п п ч

को ब्रह्म के ऋषण कर और ब्रह्म में ही तत्पर हो ग्रीर ब्रह्म का ही ध्यान कर, योगयुक्त हो ब्रह्म की ही पृजते

93 FI G

हैं। उनका बंधन इस भवसागर से जस्दी छूट जाता है।

**અ. ૭ શો. ૨૮** 

कोई अपने पाप कमों को धोकर और राग द्वेपादि धन्धनो ले मुक्त है। केवल ब्रह्म का ही स्मरण करते

, ,, 28

हैं। कोई ईश्वर की शरण लेकर जन्म मृत्यु से छूटने के लिये चेष्टा करते हैं।

छ. ७ हो. १६

उपासक चार शकार के होते हैं:-

,, ,, १७ स.९श्री११,१२,१३,१४ स. १३ श्रे. २५, २६ १ आर्त्त २ जिज्ञासु ३ अर्थार्थी और ४ ज्ञानी । इन सब में ज्ञानी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वह एका भक्ति करने वाला है। उसका पूजन कोई तामसी, कोई सान्विक खृति से, करते हैं। कोई इन्द्रियोंको जीतकर ध्यानयोग करते हैं। कोई सांख्ययोग करते हैं। कोई कर्मायोग करते हैं। कोई दूसरों से जैसे सुना है वैसे ही ईश्वर की थ्राराधना करते हैं। कोई कहते हैं कि कर्म करना पाप है और इस विचार से कमीं को त्याग कर देते हैं। कोई कहते हैं कि यह कर्म दानादि का त्याग नहीं करना चाहिये। ईश्वरपूजन के थ्रनेक मार्ग हैं। जो जिस मार्ग से ईश्वर के पास जाना चाहे, यह उसी मार्ग से उसका प्रह्मा करता है। जो किसी रूप में भी ईश्वर को थ्रद्धा पूर्वक पूजता है उस की वहीं श्रद्धा फली भूत होती है। सब यहां का भोगनेवाला थ्रीर सब का फल ऐने वाला केवल ईश्वर ही है। जो उसको नहीं जानते हैं, पतित हो जाते हैं।

ज. १८ शो ३

ब. ४ हो. ११

થ્ર. ૭ હા. ૨१, ૨૨

म. ९ श्री. २४

## टिप्पणी।

पूर्वोक्त वावयां से विदित होगा कि श्रीकृष्ण ने अनेक मार्ग, जो प्राचीन समय में प्रचित थे, दताये हैं और उनके फल भी कहे हैं। यहा का विषय भी झच्छी तरह वताया है। यहाविषय में सबसे झच्छा यहा वह बताया है जिसमें ब्रह्म कोही झिंग्न होता मानकर झारमा का इवन किया जाय, अर्थात् हानयह । अन्तमें इन सभी मार्गों को ईश्वर के पास पहुँचने का साधन माना है। कहा है कि जो श्रद्धापूर्वक ईश्वर को किसी रूप में भी पूजता है उसकी वही श्रद्धा फली मृत होती है।

श्रीकृष्ण के वाक्य बड़ी ज्यापकता रखते हैं। किसी मत या सम्प्रदाय के विरोधी नहीं हैं। मतमतान्तर के सब कर्माड़ी का समाधान कर दिया है। इसीक्रिये

#### ( १६२ )

गीता सब मत और सम्प्रदायों को प्रिय है, और उस पर अनेक भाष्य हैं।

## ध्यानयोग।

<b>छ. २</b> स्रो. ४८, ५०	समत्वकानामयोगहै। कर्ममें कुशलता का नामयोगहै। योग, बुद्धियुक्त होकर करना चाहिये। इसमें सुरुत दुष्टत होनां छोड़ देने चाहिये। इससे भय दुर हो
ख. ५ रही ४	जाता है। लांख्य और योग भिम्म २ नहीं हैं। जो एक को जानता है वह दूसरे को भी जानता है। जो
» » ₹	फल, सांख्यवाले को होता है, वह योगी, को भी होता है। पंडित छोग सांख्य छोर योग में कोई मिन्नता नहीं देखतें हैं।
<b>ઝ. ર</b> જો. <b>५</b> ૦	योग करने को स्थिर बुद्धि की यही झावश्यकता है; क्योंकि हसी से शुभ अशुम कर्म का फलत्याग होता है।
n n 42	जब मन का मोह दूर होजाता है, तो सब वस्तुओं में
" " <b>₹</b> ₹	वैराग्य उत्पन्न होजाता है, ध्यार समाधि में मन स्थिर हो कर योग की सिद्धि होजाती है। शुद्धिस्थिरवालों के ये जन्नण हैं:—
,, ,, 44	मनकी सब कामना का त्याग, श्वातमा में श्वातमा से
,, ५६ ५७	थानन्द, ग्रापत्ति में चिन्ता श्रमाव, सुख़ में विरक्तता,
५८, ५९, ६१	राग द्वेष भय क्रोघादि से विमुक्तता, सर्वसङ्गस्याग, विषयों से इन्द्रियों का जीतना, इन्द्रियविषय के बास्वाद से विरक्तता। सब इन्द्रियों पर ग्रिथकार।
<b>स. ६</b> की १६ ं	योगी को न वहुत अधिक धौर न बहुत कम भोजन करना चाहिये। न बहुत सोना चाहिये। न बहुत

जागना चाहिये । एकान्त पवित्र स्थान में योग थासन अ. ६ छो. ११ लगाना चाहिये। उसका ग्रासन तीन चोज़ों का होना चाहिये, अर्थात् कपडा, कुन्य हरिण का चर्म और क्या। वित्त को एकात्र कर इन्द्रियों को दमन ,, ,, १२ कर, निश्चल वैठ कर, देही, शिर श्रीर श्रीवा को सीधी ,, १६, १४ रख कर और नाक के ग्रम्भाग पर दृष्टि क्रमा कर, योग ग्रभ्यास करना चाहिये। योगाभ्यास भ्रं शान्त चित्त. निर्मय, ब्रह्मचारी, और व्रतस्थित होना वाहिये। मन बदा में कर ईश्वर का ज्यान करते हुए-उसी की प्राप्ति की इच्छा करते हुए योग करना चाहिये। योग सिद्धि तवहीं होगी, जब बुद्धि झारमा में स्थिर हो जायमी और सब कामनाओं के भाव जाते रहेंगे। उठों ज्यां मन चञ्चलता से दुर भागे, उसे वश्में कर आत्मा 24 के श्राधिपत्य में नियुक्त करना चाहिये। मनको वश में करना वड़ा कठिन है, क्योंकि वह ग्रस्थिर और 44 चश्चल है; परन्तु षरावर भ्रभ्यास करने से यह वश में हो सकता है। जिसका मन यश में नहीं है वह 35 RE योग नहीं कर सकता है; परन्तु जिसके वश में मन है भौर जो यथोक्त साधन करता है, उसे योग होता है। जिसने मन जीत छिया है, जो कर्म छीर इन्द्रिय विषयों से बसंग है, जिस की बुद्धि स्थिर है और जो जोभ बार बाशा से परे हैं. वह योगी है । जिस योगी की इन्द्रियाँ और मन वश में है और जिसे अ. ६ छोट पाषाम पृथिची और सुवर्ण, सब एक बरावर ही हैं, वह परम योगी है। ऐसा योगी सब को एक भाव से देखता हैं, चा हे वह 'मित्रहो, राजुहो, देशीहो, विदेशिहो, प्रिय हो, सम्बन्धी हो, साधु हो, दुष्ट हो, कोई भी क्यों न

व. ६ हो. ३२

हो। आत्मा की ऐक्यता के कारण सब वस्तुओं को एक-सी देखता है, चाहे वह वस्तु सुखदाई हो अथवा दुखदाई हो। सब जीवों को अपने में और अपने को सब जीवों में देखता है। सर्वत्र एकसा भाव रखता है और ईश्वर का सदैव स्मर्ण करता है। ऐसे योगी को कर्म वन्धन नहीं होता है। यह जान कर कि इन्द्रियां अपना २ कर्म गुणों से करती हैं, वह उनका सङ्ग त्याग कर देता है। केवल आत्मशुद्धि के लिए ही मन-बुद्धि-शरीर और इन्द्रियों से काम करता है।

" " <sup>২</sup>९

अ. ५ इलो. ११

## टिप्पणी।

पातञ्जली योग शास्त्र में जो योग क्रियापं वताई गई हैं, उसी के अनुसार यह ध्यानयोग है। इस में इतनी अन्नुता अवश्य है कि योग का अर्थ केवल प्राणायाम ध्यान धारणा समाधि ही नहीं है, विक कर्म कुशलता है। साम्य बुद्धि पर बड़ा जोर दिया है, और इस योग का रहस्य बुद्धि स्थिरता ही कहा गया है।

सांख्य श्रोर योग की एकता वताई है। उसका श्रामिन प्राय यह है कि सांख्य का अर्थ शानमांग है और योग का न्यापक अर्थ कर्मकुश्रुखता श्रीर युद्धि समता है। शानमांग में भी बुद्धिसमता ही मुख्योद्देश्य है। बुद्धि के शुद्ध और स्थिर होने पर शानी को आत्मा श्रीर परमात्मा में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता है, और उसका शाचरण उसी साम्य बुद्धि से होने लगता है। योगमांग में भी बुद्धिसमता प्राप्त कर के वही कर्म कुश्रुखता प्राप्त हो जाती है। इसक्षिये सांख्य ( शान- मार्ग) ग्रौर योग एकही है। केवल बुद्धि हीन मनुष्य ही उन में प्रन्तर देखते हैं, ज्ञानी नहीं।

इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासिक्षक नहीं होगा कि ध्यानयोग के गौरव को पाश्चात्य विद्वान श्रभी यच्छी तरह नहीं समभ्ते हैं। वे इस कर्मक्रशबता में कम हैं। भौतिक विज्ञान पर ही उन की दृष्टि है। मनोविशानशास्त्र को भी तर्कदृष्टि से ही सिद्ध करते हैं। उस में योगशास्त्र का मेल नहीं करते हैं। प्राचीन भारत में योगसाधन से बड़े २ काम लिये गये थे। इस विषय में नये ढंगपर गवेपंखा होना अत्यावश्यक

### ज्ञानयोग।

शानयोग के अन्तरगत निम्न लिखित लहागा हैं:-- म.१३ की ८,६ विनय, अदम्भता, अहिंसा, ज्ञान्ति, आर्जव, आचा-र्योपासन, शौच, स्थैर्य, ब्रात्मनिष्रह, इन्द्रियों के विपय से वैराग्य, ग्रहङ्कार का ग्रभाव, जन्म मृत्यु जरा ब्याधिश्रादि दुःखों के दोषों को जानना, इन्द्रियविंप-यों में असक्तिता, पुत्र, स्त्री, गृह, इन में मग्न नहीं हो जाना; श्रापिक्त में तथा इए श्रानिए वस्तुश्रों में सम-चित्तता, ईश्वरमें अनन्यभक्ति, एकान्त देश में वास, जन समृहं में विरक्ति, अध्यात्मज्ञान में स्थिरता, तत्त्वं शान के अर्थ को समभाना; ये सव शान के लदाया हैं। इनसे जो अन्य लत्त्रण हैं, वे अज्ञान के हैं। शान तीन प्रकार का है; अर्थात् सात्विक, राजस श्रौर तामसं।

२०, ११, १२

	८ इले। : इले).		जिस ज्ञान से सब भूतों में वही घ्राध्यय ब्रह्म दिसाई दे, प्रथात् पृथक् २ वस्तुओं में एक घ्रखिराडत ब्रह्म, वह सात्त्विक है। जिस ज्ञान से सब भूतों में जो नाना भाव हैं, पृथक् २ दिखाई दें, वह राजस है।
,,	,,	२२	जिस ज्ञान से कोई कार्य हेतु के विना ही ऐसा समका जाय कि जो कुक है सब वही है और तत्त्ववोध भी नहीं हो और जो अल्प हो, वह तामस है।
			बुद्धि,ज्ञान का द्वार है और <sup>च</sup> ह तीन प्रकार की है:-
"	,,	¥0	जो बुद्धि कार्य अकार्य, मय ध्यमय, प्रकृति निवृति; वन्ध मोत्त, इन सब को जानती है, वह सात्विकी हैं।
"	"	<b>३१</b>	जो बुद्धि धर्म ध्रधर्म, कार्य अकार्य को ठीक नहीं समक्तती है, वह राजसी है।
17	,.	३२	जो बुद्धि तमोगुण में लिप्त हुई अधर्मको धर्म सममे छौर सव वस्तुओं को उल्टी सममें, वह तामसी है।
ল. ধ	इलो.	१८	बुद्धिमान, मनुष्य वही है जो कर्म में श्रकर्म धौर् ध्रकर्म में कर्म देखे, वह सब कर्म करता हुआ भी
77	"	१६	योगी है। उसके सब कार्य कामनासंकल्प से रहित होते हैं। उस के सब कर्म झातान्ति से दग्ध हो जाते
1,	17	दंश	हैं। वही पंडित कहजाता है। पेसा अनुन्य जिस का- सक्त विपयों से कूट गया है और जिसकी बुद्धि शाना- वस्था में स्थित है, उस के सब कर्म ( यज्ञादि ) जोप हो जाते हैं, अर्थात् उसका बन्धन नहीं होता है। शान
11	77	<b>ર</b> ર	यज्ञ सब प्रकार के यज्ञों से वड़ा है; क्योंकि उसमें सव
71	"	ર્જ	कमीं का लोप हो जाता है। ज्ञान, गुरु की सेवा, खोज
27	"	₹4	करना और लोकसेवा से आता है। उसे प्राप्त करने

पीढ़े मोह नहीं होता है। इस के द्वारा सब भूतगण, थातमा में ही दिखाई देते हैं। जैसे थ्राप्ति से जलकर लकड़ी भस्म हो जाती है, वैसे अ. ४ हो. ३७<u>,</u> ही ज्ञान से सबकर्मी का नाश हो जाता है। जो सनुष्य अद्यावान है, धौर जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, 35 वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञानप्राप्ति से परम शान्ति को पहुंच जाता है। परन्त जो श्रद्धा रहित है और संशयात्मा है, वह नाग को प्राप्त होता है। उसे न इस लोक में और न पर लोक में छुख प्राप्त होता है। जिसने योग साधन से कर्मी का त्याग कर दिया है, जिसने ज्ञान से सब संशयों को किन्न मिल कर डाला है और जिसने अपने को वश में कर लिया है, उसे कोई कर्म वन्यन नहीं होता है। **छ. १५ खे. १,** २ यह संसार एक वट वृत्त है, जिसकी जहें ऊपर हैं, ष्ट्रार्थात् ब्रह्म की योग माया में, धौर शाखें नीचें हैं, अर्थात् जगत् में हैं। यह अनन्त है। इस वृत्त की पत्तियां शाखायं ऊपर नीचे फैली हुई हैं। यह गुओं के जल से सीचा जाता है। इस वृत्त की कोपलें इन्द्रियविषय हैं और इसकी जहें मनुष्यों के कर्म बन्धन हैं। इस वृत्त का न आदि है, न अन्त है थ्रौर न उसकी जड़ों का स्थान मालुम हो सकता है। इसका नाश विषयसङ्गत्यागरूपी अस्र से हो स. ४ थे। १० सकता है। वहुत मनुष्य राग, भय, कोधादि को त्याग कर, ईरवर में मन हो, उसी का आश्रय ले और ्ज्ञानतप से पवित्र हो ईश्वरभाव की प्राप्ति करते हैं। वड़े से वड़े पापी मजुष्य भी ज्ञान नौका के द्वारा पापों से तर जाते हैं।

अ. १८ इले। ४१ ... ,, ५२
,, ... ५३ वुद्धि द्वारा शुद्ध हो, धृतिद्वारा श्रपने को जीत, शब्दादि हन्दियों के विषयों को छोड़, रागद्वेपादि त्याग, एकान्त वास कर, श्रल्पाहार कर, वाणी काय मन को जीत, ध्यान योग में लग, वैराग्य का श्राश्रय ले, श्रहङ्कार, वल, श्रिममान, काम, कोध, लोभ को छोड़, निर्लोभी श्रौर शान्त हो, ब्रह्मगतिश्राप्त करने योग्य मनुष्य होते हैं। इस श्रवस्था पर पहुंच कर वे प्रस्तातमा हो जाते हैं। उन्हें न कोई शोक रहत है श्रौरन कोई काङ्क्षा रहती है। वे सव प्राणियों को एकसा ही देखते हैं श्रौर उन्हें ईश्वर की परम भक्ति हो जाती है, श्रौर इस भक्ति से वे ईश्वर का श्रसली रूप जान जाते हैं कि वह कौन श्रौर क्या है। यह तत्त्व जान कर वे ईश्वर में प्रवेश करते हैं।

## टिप्पणी

गीता का झानयोग वेदों के उपनिपदों के आधार परही है। झानप्राप्ति की परम सीमा वह है जिसमें सव चराचर भूतों में एकही अखगड अद्वेत ब्रह्म दिखाई देने लगे, और प्रत्यक्त में दिखाई देनेवाली पृथक्ता एक मूलाधार ब्रह्मतत्त्व में ही लोप हो जाय। यह प्रवस्था वड़ी कठिन है और केचल पुस्तक पढ़ने से नहीं होती है, विक अभ्यास से ही होती है। आधुनिक विद्वान, झानप्राप्ति उसी को समस्तेत हैं जो तर्क द्वारा किसी वस्तु का झान करावे। जो विषय बुद्धि के परे है, वह तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता है। उसके तो साधन ही दूसरे हैं। अजुभव की आवश्य-कता है। इसीलिए गीता में झानमार्ग कहते समय केवल पुस्तक द्वारा ज्ञानविषय समक्त लेने को ही
नहीं कहा है, विलक्त पहले ही ज्ञानी के लज्ञाण्
वतादिये हैं। यह पूर्ण श्राचारशुद्धता है। यूनान
देश के तत्त्ववेत्ता सीकटीज़ भी उसी को ज्ञानी
कहते थे जो किसी विषय को बुद्धि से समकही
नहीं गया हो, विलक्त उसके सत्य को वर्ताव में भी ले
श्रायाहो। श्राजकलतोज्ञानी केवल वहीं हैं जो किसीवात
को बुद्धि द्वारा समक्तले श्रोर उस पर तर्क कर सके,
चाहें उस वात को वर्ताव में लाया हो या नहीं।

## संन्यासयोग ।

कामनावाले कर्मों को छोडना संन्यास है। सब कर्मी म. १८ वर्के २ के फल को छोड़ना त्याग है। संन्यास और योग स. ६ इले. २ में अन्तर नहीं है। योग के विना सन्यास प्राप्त करना कठिन है। शास्त्रविहित कर्मों को छोड़ना ठीक नहीं है। सव **छ. १८ इलो. ७** कर्मों को छोड़ना असम्भव है। जोकर्मी काफल त्याग देता है, वही सन्धा त्यागी है। शरीर के दुःख भयसे कर्म त्यागकरना, राजस त्याग है। पेसे त्यागी को त्याग का फल प्राप्त नहीं होता है। मोह से कर्म त्याग करना तामस त्याग है। जो शास्त्रविहित कर्म को नियतकार्य समक्त कर करता है और उसके फल और सङ्ग को त्याग करता है, वही सात्विक त्यागी है। ऐसा ही त्यागी सत्त्वगुण संयुक्त, बुद्धिमान् श्रौर संशय रहित है। वह न तो बुरे

काम से द्वेष करता है श्रौर न अच्छे काम से प्रीति करता है।

व्य ६ हो. १

ख. ४ <del>हो</del>. ३

अ. **९** थे. २८

स.१८ हो. ४९

जो कर्मों को अपना नियत कार्य समम कर छोर उन की फलकामना झोड़कर कर्म करता है, वही सखा संन्यासी है, न कि वह जो निरिन्न छोर अकिय है। सच्चा छोर नित्य संन्यासी वही हैं जो न किसी से द्वेष करे छोर न कोई कांचा करे। वह निर्हन्द हो सव बन्धनों से छूट जाता है। पेसे संन्यासी से अच्छे बुरे सवकर्मों के फल कूट जाते हैं, छोर देह त्याग करने पर वह ईश्वर में मिल जाता है। जो सर्वन छ-सक बुद्धि है, जितातमा है, इच्छा रहित है, वह संन्यास के द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है। इसे प्राप्त करने पर उसे ब्रह्म की प्राप्त होती है, जो झान की परम सीमा है।

#### टिप्पणी।

संन्यास का अर्थ प्रायः यही समक्ता जाता है कि स्त्री
पुत्रादि संसार व्यवहार धौर विहित कमों को छोड़ कर
धौर गेरुधा कपड़े रंगा कर मनुष्य एकान्त वास करे।
धाज कल संन्यास से यही समक्ता जाता है। धीरूपा
के धनुसार यह संन्यास नहीं है। कर्मत्याग करना
संन्यास नहीं, किन्तु कर्म की फलइच्छा छोड़ कर
कर्म करना ही संन्यास है। गीता में त्यागका धर्थ फल
कामना छोड़ना ही माना है। कर्म को सर्वधा त्यागकरना धसम्भव है। कर्म के विना देहधारण भी नहीं
हो सकता है। इसलिये जो इन्द्रियनिग्रह कर, साम्य
दुद्धि हो धौर फलकामना त्याग, कर्म, करता है वही

संन्यासी है, चाहूँ वह गृहस्थी हो वा वानप्रस्थ । इस फलकामनी को त्याग कर संन्यास करने वाले उदहारगतः राजा जनक और श्रीकृष्ण हैं। सन्यास का यह धर्थ वताना गीती का अतल गौरव है। इस विपय में उपनिषद् , वेदान्त ख्रथवा दूसरे शास्त्रों के सिद्धान्तों से भी गीता वह गई है। इस . देश में सन्यासी होने की प्रथा वहत वह गई है, और उस के कारण समाजसम्बन्धिनी अनेक किनाइयाँ थ्रौर हानियाँ उपस्थित हो गई हैं। श्रीकृष्ण के इस सिद्धान्त के। ध्याल में लाते से यह प्रधा भी समा-जोपयोगी हो सकती है। त्संसारसंब्रह के लिये ष्प्रावश्यकता है कि श्रद्धवृतियों के मनुष्य गृहस्थवने रहें और अपने उदार भावों को संसार चलाने के काम में लावें। क्या संसार ष्राधिम मनुष्यों के चलाने के लिये ही है ? यदि ज्ञानी धौर ग्लाखाचरण के मनुष्य इसे क्रोड़ कर वन को चले जावें और केवल ध्रज्ञानी ध्रौर द्वाराचारी ही सँसार में रह जावें, तो संसार प्रतिदिन अधोगति को चला जावेगा। भिष्म पिता, व्यास, राजाजनक, श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र सरीखे बानी और तत्त्ववेता महात्मा सव जानकर भी संसारपरोपकारार्थ, संसार में ही रहे। यदि श्री शॅंकरा-चार्य सन्यास का अर्थकेवल संसारत्याग ही समसते. तो इसदेश के सनातनधर्म का पुनरुत्थान कौन करता। व्यासजी क्यों १८ पुराण वनाते और अपनी माता सत्यवती के कहने से राजवंश चलाने के लिये क्यों सन्तान उत्पन्न करते। बुद्ध महाराज इस संसार के उपकारके लिये फिर क्यों लौट आते, उन्हें तो पूर्ण

श्वानावस्था प्राप्त होई गई थी। इन सव उदहारणों से , सिद्ध होता है कि संन्यास मार्ग फलकामना छोड़ना ही है, न कि संसार और कर्म छोड़ना। और इसी वात को लक्ष्य कर ब्राधुनिक संन्यास प्रथाम संशो-धन करना उचित है।

#### भक्तियोग।

भिक्तियोग काः रहस्य यह है कि मनुष्य श्रपने को ईश्वर में सर्वथा समर्पित करदे श्रीर जो कुछ भी काम को वह ईश्वर ही के हेतु करे।

नीचे तिसे श्रीकृष्णजी के वाक्यों का श्रनुसरण भक्तों को करना चाहिये।

**अ.१८ इल्रा. ६**४

ष्ठापने मन को मुक्त में ही जगाओ मेरे ही भंक हो, मेरे लिये ही यहादि करो, मेरी ही नमस्कार करो, यदि पेसा करोगे तो तुम निश्चय ही मेरे पास पहुंचोगे। इस वात की मैं प्रतहा करता हूं। तुम मेरे प्यारे हो। सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरे ही श्राणागत हो. मैं

**अ. १८** श्लो. इह

तुर्न्हें सब पापों से छुड़ा दूंगा, शोच मत करो।

हर सब भावों से मेरी ही शरण हो, उस की कृपा से

तुर्म्हें परम और अटल शान्ति पास होगी।

44-

सव कर्मों को मेरे ऊपर ही चित्त से छोड़ दो, मुक्त में ही तत्पर हो, बुद्धियोग के करते हुये मुक्ती में ही नि-रन्तर चित्त जगाये रहो।

" , १८ विदे मुक्तमें चित्त लगाये रहोगे, तो सब दुःखोंसे पार हो जाक्योगे, यदि श्रहङ्कार के कारण इस पर ध्यान अ. ९ २को. २६ नहीं दोगे तो नाश हो जायगा। जो कोई मुक्ते पत्र पुष्प

फल जल मिक से देता मैं उसे महरू कर लेता हूं। जो कुछ तुम करो, जो कुछ तुम खाओ, जो कुछ तुम मः ६ हो. स्फ दो और भेट करो, जो कुक् तप करो, उस सव को मेरे ही धर्षण करों। अपने मनकों मुसमें ही: लगाओं।। अपनी बुद्धि को मा१२ इहो. ८ मुभ में ही प्रवेश करो। यदि ऐसा करोगे तो निसन्देह तुम मुक्त में ही सर्वदा निवास करोगे 🕨 यदि मुक्त में स्थिर-चिक्त नहीं हो। सकते हों, तों: योंन का अभ्यास करो । यदि अभ्यास भी नहीं कर सकतेः हो, तो जो कुछ कर्म करो, वह मेरे लिये ही करों। मेरे अर्थ कर्म करने से ही तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। यदि यह भी नहीं कर सकते हो, तो अपने को वशा में कर सब कांमों का फल त्याग दों। 'जो अपने मन को मुक्त में लगा कर मुक्तही में नियुक्त हो कर खदूद श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, उन्हें में सव योगियों में उत्तम समस्तता हूं।

## भक्तों के ये लक्षण हैं।

मेरे मक चित्तमय श्रीर प्राशागत होकर मेरी ही वार्ता का १० को. ९ नित्य प्रति श्रापस में करते हैं। इसी से संतोषित श्रीर प्रसन्न रहते हैं। जो न हर्ष करता है, न होप करता है, न शोच करता क. १२ को. १७ है, न कांद्रा करता है, जो श्रुम श्राशुम दोनों को त्याग कर देता है श्रोर मेरी मिक से ही पूर्ण हृदय रहता है, यही मुक्ते प्रिय है। श्रुम प्रिय है। श्रुम प्रमान रहते " " १६ हो। सान श्रपमान, श्रीत उपण्, सुख दुःख, इन

सव में पक्षसे ही रहते हैं और इन्द्रियविषयसङ्ग को छोड़ देते हैं।

अ.१२ इले। १६

जो किसी चीज़ की इच्छा नहीं करता, ग्रुचि, ग्रुद्धा-चरण, दत्त, उदासीन, दुःखरिहत श्रौर श्रपने सव कामों के फलों का त्यगी है, वही मेरा भक्त है, वही मुक्ते प्रिय है।

n n <sup>₹</sup>₹ .

जो किसी जीव से द्वेप नहीं करता है, मित्रमाव रखता है, द्यावान है, छहंकाररहित है, छपनापन भी जिसमें नहीं है, छुख दुःख में प्रकला है, छौर समा करता है; वही मेरा भक्त है। जो संतुष्ट, योग संयुक्त, जितेन्द्रिय, इठनिश्चय है, जिसने मन बुद्धि

अ.१२ क्लो**.** १४

को मेरे अर्पण कर दी है; वही मेरा भक्त है, घही मुक्ते त्रिय है। जिस से संसारी जोगों को भय नहीं है, और न उसे संसारी जोगों से भय है, जो हर्ष धामर्प भयादि के उद्धेग से रहित है; वही मुक्ते त्रिय है। जो निन्दा स्तुति में एकसा है, मौनी है, सब तरह सन्तुष्ट है; जिस के रहनेका कोई स्थान नहीं है, स्थिर द्विद है, और भक्तिमान है; वही मेरा प्यारा है।

छ. ९ इले. २२

यह फल ऐसे भकजनों को मिलता है, जो मेरा धनन्य चिन्तन करते हुये उपासना करते हैं; उन्हें में सब बिझो से बचाता हूं। जो मुक्ते भक्ति से भजते हैं, वे मेरे में हैं और में उन में हूं। ऐसे भक्त धर्मात्मा हो जाते हैं और अटल शान्ति प्राप्त करते हैं। जो मेरी शर्या जेते हैं, उनका ज्ञय कभी नहीं होता है, वे कैसे ही पापी क्योंन हों, और चाहेक्ज्री वैश्यश्रद्ध ही क्यों न हों, वे सभी परमगति प्राप्त करते हैं।

» » ₹S

,, ,, **ą**ę

" " इंट

फिर शुद्ध ब्राह्मण और राजर्षि भकों का तो कहना कर १० छे. १० को में युद्धियोग देता हूं, जिससे वे मेरे पास पहुंचते हैं। जो मेरा सेवन निरन्तर भक्तियोग से करते हैं, वे गुण कर १४ छे. २६ पुञ्जों से पार हो कर ब्रह्म अवस्था को प्राप्त करते हैं। यह भजीमांति मक्तिहारा ज्ञात हो सकता है कि कर १८ छे. ५५ में वास्तव में क्या हूं। भक्तजन मेरे वास्तविक रूप

मेरी क्रपा से भ्रदल और भ्रव्यय पद को प्राप्त करता है।

## टिप्पणी ।

जो मेरी शरण जेता है, वह सब काम करता हुआ़ भी

को जान कर मुक्तमें ही प्रवेश करते हैं।

यदि नारायणीयोपख्यान महाभारत को छोड़ दें, तो कह झवरय कहना होगा कि गीता ही मिक्तमार्ग की खब से पहली पुस्तक है। मिक्त पर जितने अन्य जिले गये हैं वे सब पीछे के हैं। गीता की मिक्त है सब कमों को करते हुये उन्हें ईश्वर के झप्ण कर देना और उनमें अपना कुछ स्वार्थ नहीं रखना। दूसरे शब्दों में निष्काम कम्म करना है (जो कमयोग का मुख्यांग्रा है) और उस के साथ उन सब कमों को ईश्वर अप्ण कर देना है।

मिक्तमार्ग का उद्देश ईसाईमत में अधिक है और महातमा ईसा ने वायविल में इस को सब में उन्या स्थान दिया है। जिस समय पाश्चात्य पंडित संस्कृत अन्यों को पढ़ने लगे और हिन्दू प्राचीनअन्यों में मिक्त विषय को अधिक न पाया, तो कहने लगे कि

गीता में भक्ति का उपदेश वायविल के भक्ति मार्ग को ही देख कर लिखा है। इस विपय में कई विद्वानों ने लेख भी लिख डाले भीर वायविल भीर गीता के वाक्यों का मुकाविला भी कर दिखा दिया कि गीता के बहुत से वाक्य वायविल के वाक्यों के ही समान हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि गीता के अनेक भक्ति सम्बन्धी अधेक वायविल के वाक्यों से मिलते हैं: परन्त यह निर्णय फरना है कि यह बाक्यसदशता दोनों ग्रन्थों में स्वतंत्र ही उत्पन्न हो गई, भ्रथवा एक अन्यकार ने दूसरे ग्रन्थ का भाव ले लिया है। गीता कव वनीः इस लेखमें हम वहुत से पाधात्य और पतहेशीय पंडितों की सम्मतिश्रवसार लिख चुके हैं कि गीता का होना महात्मा ईसा के जन्म से ५०० वर्ष पहले पाया जाता है। इस से भलीभांति सिद्ध हो गया है कि गीता में भक्तिभाव बायविज से नहीं जिये गये हैं; क्योंकि वायविल वहुत पीछे की वनी हुई है। कुछ एतंद्रेशीय विद्वानों ने इस पर यह भी जिखा है कि वायविल में भक्तिभाव गीता अथवा बौद्धधर्म से ही लिये गये हैं। इस विषय के बहुत से प्रमाण भी दिये हैं। प्रमाणों के देखते जो बात पास्त्रात्यं पंडितों ने बाइविल की उत्कृष्टता बताने में सिद्ध करी थी, वह उन्हों के तकों से गीता की सिद्ध होजाती है। श्राधुनिक विद्वानों का मत है कि एकही विषय के विचार दो देशों में एक दूसरे की सहायता लिये बिना भी हो सकते हैं, और जब तक इस बात के अचूक प्रमाण नहीं हों कि एक अन्यकार ने दूसरे अन्यकार के सि-द्धान्तों की चोरी की है, तब तक बृथा दोपारोपण क-

रना टीक नहीं है। हम मी इस बात को मानते हैं; परन्तु यह कहने में कुछ भी सन्देह नहीं है कि जो भक्तिभाव गीता में हैं वे बाइविल से कादापि नहीं लिये गये; और न पेसा किसी तर्क से प्रमाणित ही हो सकता है। ये इस देश के प्राचीन विचार हैं और इनका आरम्भ भागवतधर्म से हुआ है, जो गीता से पहले का है।

## श्राचार।

मनुष्य का अधिकार यह ही कि वह अपना नियत कर्म करे और- इस कर्म के फल की कामना नहीं रक्ले. श्रीर:न इस श्राभिपाय से कर्म करे। सिद्धि थौर असिदि में सम बुद्धि होकर थ्रौर इत्हिय विपयों का संग छोड कर कर्म करना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय विषयों पर प्यान देने से उन में प्रवृति होती है और · इस प्रवृति से काम की उत्पत्ति होती है, काम से कोध-उपत्म होता है। कोभ से मोह होता है, मोह से स्मृति विभ्रम होता है, स्मृति विभ्रम से वृद्धि का नाश होता श्रौर बुद्धि के नाश से सर्व नाश हो जाता है। जब विचरती हुई इन्द्रियों में मन लग जाता है, तो जैसे समुद्र पर चलते हुये जहाज को पवनवेंग इधर उधर वहा लेजाता है, वैसे ही इन्द्रियों के विचरणवेग से बुद्धि डांमा डोल हो जाती है। इसलिये इन्द्रियों को : विपयों में विचरण करने से रोकना चाहिये। इसी से बुद्धि स्थिर होगी।कोई २ यह कहते हैं कि कर्मी का त्याग करना चाहिये। यह मत ठीक नहीं है। कर्म, अकर्म से उत्कृष्ट है। यदि कर्म करना क्रोड दोगे, तो शरीर का

व. २ श्री ४७

.. ४⊏

,, ६२

,, **43** 

, ইড

**.** 

थ. ३ इड्रो. ८

अ.	ર શે.	१९		पोपण भी नहीं हो सकेगा। सात्त्विक कर्म करने से
				मोत्त की प्राप्ति हो सकती है। यदि कर्म करने की
,,	77	२१		ष्ट्रावश्यकता भी नहीं रहे, तव भी कर्म करना चाहिये;
				क्योंकि वड़ों का अनुकरण सब दूसरे आदमी करते
,,	,,	ર×		हैं। बुद्धिमान मनुप्य संसार का हित चाहते हुये
,,	"	₹०		निप्काम हो कर कर्म करते हैं। जो कुछ कर्म करो उसे
				ईश्वर के हेतु करो छौर उसी का ध्यान लगाकर
,,	**	34		करो धौर धाशा धौर भ्रहङ्कारको त्याग दो। मनुष्य
,,	"	₹७		को चाहिये कि अपने धर्म को ही अच्छा समभ्रे; अपने
				धर्म साधन में मरना भी अच्छा है; परन्तु दूसरे का
				धर्म भयप्रद है। कामकोध रूपी शत्रुश्रों का दमन करना
अ.	४ हो.	१९	•	ही पाप रोकना है। वें ही वुद्धिमान प्रथवा पंडित हैं,
	•			जिन के कमें फलेच्छा रहित हैं भ्रौर बानाग्नि से
				दग्ध हो गये हैं।
77	,,	२०		पेसे जोग फलवासना छोड़, संतुष्ट हो, ईश्वर के
				शरण गत हो, कर्म करते हुये भी कर्म बंधनों से दूर
**	37	₹१′	22	रहंते हैं। उन्हें किसी वस्तु की कांद्रा नहीं रहती है,
				डनका मनं उनकें वश में होता है, वे लोभ का त्याग कर
		••	4*	नेत हैं जार करता राजर नाम ता ही काम नारत है।
,,	77	રર		इसिजिए इन्हें पाप नहीं लगता है। उन्हें जो कुछ मिल
				जाता है उसी से संतोष करतेते हैं, निर्द्रन्द रहते हैं
	•	*		श्रौर सिवि श्रसिद्धि में चलायमान नहीं होते हैं।
37	"	इ४		यंह सव श्रम्यासङ्गान से, खोज करने से श्रौर लोक
				सेवा से प्राप्त करना चाहिये। ज्ञानवान् मनुष्यों से
				शिक्ता लेनी चाहिये।
95	>>	80		संशययुक्त मनुष्य नाश को प्राप्त होते हैं छौर उन्हें
,,	"	४२		सुख कभी नहीं मिलता है। इसलिये खन्नान सेउत्पन्न

हुये संशयों को ज्ञान की तीव तलवार से काट योगमें स्थितवृद्धि होना चाहिये। ज्ञानावस्था को पहुँचे हुये मनुज्य किसी से कोई भेद नहीं म..५ हो. १८ रखते हैं। ब्राह्मण्, गौ, हाथी, कुत्ता और चार्डाल को पकड़ी दृष्टि से देखते हैं। जो अपने में ही प्रसन्न है, जो अपने मीतर ही रमंग . करता है, जिसके भीतरही ज्योति का प्रकाश है, वह निर्वाण की परम शान्ति को प्राप्त करता है। जो अपने को जानते हैं, जो राग द्वेप से दूर हैं छौर जितेन्द्रिय हैं और जिन्हें अपने मन पर अधिकार है, उन के समीप निर्वाण शान्ति सदैव ही रहती हैं। जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, श्रीर जो झान विज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित है, उसे मही का देखा, पत्यर भीर सुवर्ण एकसे ही हैं। वही मनुष्य सब में श्रेष्ठ है, जो शब्रु मित्रादि में एक आब रखता है। समहिष्ट वाले मनुष्य को सब जीवों में श्रात्मा श्रीर श्रात्मा में सब जीव दिखाई देते हैं; उसे सर्वन्न एकसा ही दिखाई देता है। जो ईम्बर को सर्वत्र देखता श्रीर सर्व चींजी को ईम्बर में ही देखता हैं, उसे ईम्बर कभी नहीं छोड़ंता है, श्रौर न वह ईश्वर को छोड़ता है। 🝜 इंश्वर इस सब संसार्वका माता, पिता झौर नियन्ता है। वही इसका मर्ता, प्रमु, साची, सुहद, निवासस्यान शररा, प्रभव, प्रलय, अन्यय वीजादि है। यदि कोई सक्तिपूर्वक पत्र पुष्प फल जलादि भी उस की भेट करता है, तो वह उसे ब्रह्ण करता है। इसलिये तुम जो कुछमी करो, जो कुछमी खात्रो, जो

कुछ भी दो, जो कुछभी तप करो, सव उसी के ध्यपंशा करो। थ. ९ इली. २९ वह सब में एकसा है; उस का कोई मित्र शत्रु नहीं है, जो भिकत पूर्वक उसे पूजते हैं, वे उसी के होते हैं। यदि पापी से पापी भी एकचित्त होकर उस की पूजा करे, तो वहभी धर्मक हो जाता है। जी ईश्वर की प्रिय भक्त होना चाहें उन्हें ऐसा करना चाहिये:-य, १२ हो. १३ किसी जीव का प्राहित नहीं चाहना, सब से मित्रता भौर द्यामाव रखना, सङ्ग और भ्रह्कार छोड़ना, सुख दुःखं में एकसे रहना। उन्हें चाहिये कि समावार्; सदा सन्तोषी, योगस्थित, 'जितेन्द्रिय, दढ़चित्त, ईश्वर' में 'स्थितवुद्धि हों और वे ' पेसी वृतियां करलें किन उनसे किसी दूसरे को भय हो, न उन्हें किसी का भय रहे, और न उन्हें कोई सुख, भय क्रीध सम्बन्धिनी चिन्ताएं हों। .उनमें ये जन्म भी होने चाहिये:-कांचा नहीं रखना, शुद्ध होना, कुशल होना, चोम 28 रहित होना, राग हेष से परे होना, सब कर्मी की बासनाओं को छोड़ना, न प्रीति करना, न शत्रुता रखना, न दुःखी होना, न कुछ इच्छा करना, पाप पुग्य दोनों का त्याग करना, केवल ईम्बरकी ही भक्ति करना, शत्रु मित्र में, स्तुति निन्दा में, शीत ताप में, १८ सुख दुःख में प्रकसा होना और इन्द्रियविषय सङ्ग छोड़ देना, प्रशंसा और निन्दामें चुप रहना, ओ कुछ १९

'मिल जाय उसी में सन्तोष करना, दहचित्त होना,

रहने का कोई स्थान नहीं रखना और ईश्वरमिक परायस होना । नीचे छिखे ज्ञान के छत्तगा हैं। इन से जो अन्य जन्म हैं, व अज्ञान के हैं :-द्यमानता, श्रदम्भता, श्रद्धिला, ज्ञां ते, श्राजेव, उपासना, ब. १३ इले = शौच, स्धर्य, आत्मनिश्रह, इन्द्रिय विषयों में वैराम्य, द्यारङ्कार का अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा न्याधि के दु:खोंका समस्तना, इन्द्रिय विषयों में असक्ति, पुत्र, स्त्री, १० गृहादि में घसड़, इए और अनिए चीज़ों में सर्वदासम-' चित्तता. ईश्वर की अनन्य भक्ति, एकान्त स्थान वास, जन समृह में ध्रवचि, श्रध्यात्म ज्ञान में दृद्र अनुराग धौर तत्त्वज्ञानार्थ का समस्रता। दैवी सम्पद यह है:--ध्यमय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञानयोग व्यवस्थिति,हान, हम, भ, १६ को, १ ं यह, स्वाच्याय, तप, श्राजंव, श्रहिंसा, सत्यं, श्रकोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, जीवों में द्या, लोभ का अभाव, सृद्ता, विनय, चपलताका। धभाव, तेज्ञं, समा, धृति, शौच, द्रोह का श्रभाव, श्रतिमानता का श्रमाव। भ्रासुरी सम्पद् ये हैं :-.दम्म, द्रपं, ग्रमिमान, कोध, पारुष्य श्रौर श्रज्ञान । हेची सम्पद मोक्तका हेतुहै और आसुरी सम्पद वंधन का । काम, कोथ, लोभ; ये तीन नरक के द्वार हैं झौर श्रात्मा का नाश करने वाले हैं। इस लिये इन तीनों को त्याग करना चाहिये। जो इन तीनों को छोड देता

है वही आत्मा की उन्नतिकरता है और परमगति को

प्राप्त होता है।

तप तीन प्रकार का है-शारीरिक, वाङ्मय श्रीर मानसिक। देव, द्विज, गुरु श्रौर प्रान्न ( ज्ञानवान् ) इन स.१७ इस्रो. १४ की पूजा करना, शौच, श्राजंव, ब्रह्मचर्य रखना श्रीर हिंसा नहीं करना: यह शरीर का तप है। पेसा वाक्य कहवा जिस से किसी को दुःख नहीं हो धौर जो सत्य, प्रिय धौर हितकारी हो, धौर स्वा-ध्वाय द्यर्थात धर्म अन्थों का अभ्यास करनाः यह वाङमय तप है। मन को प्रसन्नता, सौम्यता, मौन्य, श्रात्म निग्रह श्रौर ₹₹ ,, भावसंश्रंखिः यह मानासिक तप है। जब यह तीन प्रकार का तप अति अद्धा से और फल १७ 43 की कांचा क्रोड कर किया जाता है, तो यह सास्विक तप कहलाता है। छ. १८ इहो. ५ यक्, दान और तप का त्याग नहीं करना चाहिये-थे शानमान पुरुषों के शुद्धिसाधन हैं। परन्तु इन कमी को संग और फलवासना छोड़कर, करना चाहिये। नियत कमीं को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। " मोहबश हो कर त्याग करना, तामस त्याग है। शरीर दुःख समभ कर त्याग करना राजस त्याग है। ऐसे त्याग करनेवालों को त्याग का फल नहीं मिलता है। जो नियत कर्म को अपना धर्म समक्त कर करता है, परन्त उन के फल की कांचा नहीं रखता है और न इन्द्रिय विषयों में लिप्त होता है, वह सात्विक त्यागी है। सान्विक त्यागी को कोई संशय नहीं रहता है। वह न अरोचक कर्म से घ्रणा करता है और न रोचक में प्रीति करता है।

जो कर्म, इन्द्रियविपयों का सङ्ग, फल की कामना	म.१	द इ	કો. રરૂ
ग्रौर रागद्वेपादि कोड़कर किया जाता है, वह			•
सात्त्रिक है ।		•	
जो कर्म, फलवाँद्या से अथवा अहङ्कार से अथवा वहुत	7,7	33	२४
प्रयास से किया जाता है, वह राजस है। . 🦯			
जो कर्म, मोह से ष्रायवा ष्रापनी पुरुषार्थ सीमा से	79	**	२४
वाहर ग्रथवा दूसरों की हानि ग्रौर हिंसा का विचार			
छोड़कर किया जाता है, वह तामस है।			
जो मनुष्य इन्द्रिय-विषय-सङ्ग त्याग, श्रहङ्कार छोड़,	27	34	. इह
धृतिश्रदा साथ सिद्धि श्रसिद्धि को एक भाव रख			
कर्म करता है, वह सात्त्विक कर्ता है। 🧪			•
जो मनुष्य, कर्म-फल की कामना कर रागी-लुब्ध	23	37	રહ
हिंसात्मक हो, श्रौर ध्यग्जिच-हर्प-शोकयुक्त हो कर्म			
करता है, वह राजस कर्ता है।			
थ्ययुक्त-प्रकृत-स्तन्ध-शठ-नैप्कृतिक-ग्रालसी-विपादी	"	77	ર⊏
दीर्घ सूत्री कर्म कर्त्ता, तामस कर्ता है।			
जो छुख पहले विप के समान हो और धत में असृत	25	>>	ં રૂહ
के समान हो, वह सात्त्विक सुख है।			
यह सुख आतम-बुद्धि के आनन्द से उत्पन्न होता है।			
जो सुख पहले विषयेन्द्रिय-संभोग से असृत तुल्य हो	12	22,	₹૯
भौर परिणाम में विष समान होवह राजस सुख है।			
जो सुख आदि और अन्त दोनों में आत्मा को मोह	23	<b>33</b>	३९
में डालने वाला हो, वह तामस सुख है। तामस			
सुख की उत्पत्ति निद्रा-श्रालस्य श्रौर प्रमाद से है।			
शम,दम, तप, शौच, चान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान	"	**	४२
भास्तिकताः ये सव ब्राह्मण के कर्म हैं।			

ख. १८ इ**ले. ४३**'

शौर्य, तेज, धृति, दांत्य, युद्ध से नहीं भागना, दान, ईइंचर भाव: ये सब त्रिय के स्वभाविक कर्म हैं।

ધ. ૧૮ છો. ૪૪

कृषि-गोरत्ता-वाणिज्य ; ये वैश्य के स्वभाविक कर्म हैं

भ्रपने २ कर्म में लगे रहने से मनुष्य को सिद्धि होती

है। श्रापना कर्म करने से ही मञ्जूष्य उस परमेश्वर की जिस से यह सब संसार उत्पन्न हुन्ना है श्रीर जो इस सव में विद्यमान हैं पूजा करता है और सिद्धि प्राप्त

करता है।

अपना धर्म रोचक नहीं हो, तवसी दुसरे के धर्म से ग्रच्का है। जो ग्रपने स्वामाविक कर्म को कर्ता है

उसे पाप नहीं लगता है, श्रपना कर्म दोषयुक्त भी हो तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए; क्योंकि जैसे

श्रों में धूर्या रहता है, बैसे दौष भी सभी कर्मों में

रहते हैं।

जिसकी बुद्धि सभी जगह असक रहती है. जिसने श्रपने को जीत लिया है, जिसमें कामना नहीं रही है,

वह संन्यास द्वारा परम सिद्धि को प्राप्तकर सकता है। शुद्ध-बुद्धि-युक्त हो, अपने को धृति से जीत, शब्दादि

घ.१८ इले।. ४१

विषयों को त्यांग, रागद्वैप को छोड़, एकान्त में वासकर

**छ. १८ हो. ५**२ છા. ૧૮ છે. ધર

श्रत्पाहारी हो, मन, काय और वचन को वश में कर, वैराग्य का ग्राश्रय ले, ग्रहङ्कार, वल, दर्प,

काम, कोघ, लोम को छोड़, ममत्व को त्याग और

शान्त हो, मनुष्य ब्रह्मपदप्राप्ति थोग्य हो सकता है।

मनुष्य को चाहिये कि सब कामों को चित्त से ईश्वर पर छोड़ दे, उसी में तत्पर होवे और बुद्धियोग द्वारा

उसी में चित्त लगावे।

ईश्वर में चित्त लगाए रहने से मराप्य सव कर्षों से अ. १८ थी. ५८ दूर हो जाता है। यदि वह श्रहङ्कार के कारण इस वात पर ध्यान नहीं दे. तो उसका नाश हो जाता है। ईश्वर सव जीवों के हृदय में वैटकर जीवों को श्रपनी स.१८ श्रा.६१ माया से पेसेही घुमा रहा है, जैसे क्रुभ्मकार घटादि वस्तओं को अपने यन्त्र पर घुमाता है। ब.१८ हो.६२ सव भावों से उसी की शरण जाना चाहिये। उसी की कपा से घटल जान्ति का स्थान प्राप्त होता है। अ.१८ की. ६४ ईश्वर में ही मन लगाओ, उसी के भक्तहों, उसी को यज्ञ करो. उसी को नमस्कार करो। ऐसा करने से तुम उसे निश्चय ही प्राप्त करोगे । वा. १८ हो. ६६ सब धर्मों को छोड़ कर केवल उसी की शरण लो। ईश्वर कहता है कि मैं तुम्हें सव पापों से मुक्त कर इंगा-शोच मतकरो।

#### टिप्पणी।

इस विषय पर हम पहले लिख चुके हैं; इसलिये यहां कोई टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहते हैं कि आचार में निष्काम कर्म करना ही अत्यावश्यक श्रंश है।

## मोक्ष ऋोर परमपद किन को प्राप्त होता है।

जो योगी शान्त चित्त है, जिसमें रजोगुग नहीं रहा है, अ. ६ इले. २७ , जो पाप रहित है और ब्रह्म भृत है उसी को उत्तम

सुख प्राप्त होता है। जो योगी पापरहित है, वही ब्रहा-स.६ इ.हा. २८ संस्पर्श का श्रत्यन्त सुख प्राप्त करता है, वही परम છા. દ ક્ષો. १५ निर्वाण की शान्ति प्राप्त करता है। जो मुस्त में तत्पर જા. શ્ર જાે. દ. હ हो कर अपने सब कर्म मेरे में ही छोड देते हैं और श्रानन्य योग से मेरी ही उपासना करते हैं, उन्हें में मृत्युसंसारसागर से पार कर देता हूं। जो योग युक्त हैं ने शीव ही ब्रह्मकी प्राप्ति करते हैं। जो योगी છા. ૫ ક્લો. શ્ર कर्मफल को त्याग देता है, वह अटल शान्ति प्राप्त करता है। जो उसी में बुद्धि लगाते है, जो उसी में अपने को स. ४ हो. १७ मग्न करते हैं. जो उसी की निए। करते हैं धौर उसी में तत्पर होते हैं, उन के सब पाप ज्ञानके द्वारा दूर हो जाते हैं और वे उस गति को पहुँचते हैं जहाँ से फिर वन्हें इस संसार में नहीं श्राना पडता है। य. ४ छ्लो. २१ जिसकी श्रात्मा वाहरवाली चीजों में नहीं लगी है श्रौर जो ब्रह्म योग से श्रान्तरिक श्रात्मा के सुख का श्रवभव करता है, वह श्रव्यय सुख को प्राप्त करता है। थ. ५ इते। २४ जों योगी भीतर सुखी है, जो श्रपने भीतर ही रमग् करता है, जिसके भीतर ही ज्योति है, वह ब्रह्मावस्था को प्राप्त कर ब्रह्म निर्वाण पाता है। અ. ५ શ્રી. રદ जो योगी त्रात्मा को जानते हैं जिनका चित्त वश में है श्रौर जो काम कोध रहित हैं. उन के पास ब्रह्म निर्वाग हमेशा ही है। छा. ५ हो. २७. २८ जो बाहर के स्पर्शों को दूर कर, भूवों के वीच नेत्र लगा, नासका के भीतर चलने वाली प्राग्र प्रपान वायुओं को एक कर, मन बुद्धि इन्द्रियों को वश में कर और इच्छा भय कोघ को दूर कर, मोत्त परायंग होते हैं, वे सदा ही मुक्त हैं। शानी-लोग बुद्धि युक्त हो, अ. २ छो. ५१

कर्म के फल को त्याग और जन्म वन्धन से मुक्त हो. ध्रनामयपद प्राप्त करते हैं।

जो राग-द्वेप-रहित हो इन्द्रिय-विपयों में विचरते हैं और अ २ शे ६४ ध्यपने को जीत लेते हैं, वे परम पढ़ को प्राप्त करते हैं।

जैसे समुद्र में नदियां प्रवेश करती हैं, परन्तु समुद्र " ध्यचल ही रहता है, वैसे ही जिसमें सव कामनाएं प्रवेश करती हुई भी उसे चलायमान नहीं करती हैं घह ही शान्ति प्राप्त करता है, न कि वह जा कामनाओं

की इच्छा ही करता रहता है। जो कामनाएं छोड निःस्पृह, निर्मम थ्रौर निरहङ्कारी हो रहता है, उसे श्रवस्य शान्ति प्राप्त होती है।

**અ. ર ક્ષો** ૭શ

जो इस ब्राह्मीस्थिति को ग्रन्त काल में भी धारग करता है. वह निर्वेश प्राप्त करता है। जो इन्द्रिय विपयों में मन्न नहीं हो कर्म करता है, उसे परम पद प्राप्तं होता है।

अ. २ हो, **७**२

वहत पेंस मनुष्य हैं जो राग भय क्रोध से अलग हो अ. ४ १ छ। १० मक्त में ही मन्न हो गये हैं और मेरी ही शरण में ष्यागये हैं। ये सब ज्ञानतप से ग्लाइ हो मेरे भाव में ही मिलगये हैं।

थडावान और जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है श्रीर ज्ञान प्राप्ति से परम श्रीर भ्रटल शान्ति प्राप्त करता है।

मेरे में ही मन लगाश्रो, मेरे ही भक्त हो, मेरे लिये ही यज्ञादि करो, मेरीही श्राराधना करो, इस प्रकार थात्मा लगाकर मेरे में ही तत्पर हो, तो तुम मुसे प्राप्त करोगे। जो मुभ्त अजन्मा अनादि सर्व संसार का अ १० क्षे ३

अ. ९ स्रो. ३४

ईश्वर जानता है, वह सव मजुज्यों में श्रज्ञानरहित है श्रोर सब पापों से मुक्त हो जाता है।

अ. ११ हो. **५**५ जो सब कर्म मेरे लिये ही करता है, जो मेरे को ही श्रेष्ठ मानता है, जो सव इन्द्रियविपयों से असङ्क है, जो मेरा भक्त है और सब जीवों में निर्वेर है. वह मेरे पास

पहुँचता है।

ਚ. ₹੨ ਲੀ. ⊻ सव इन्द्रियों को जीत, सर्वत्र समबुद्धि हो, सव जीवों के हित में लग मन्य्य मुक्ते प्राप्त करते हैं। जो मुक्तमें

ही मन लगाते हैं, मुक्त में ही बुद्धि का प्रवेश करते हैं,

वे इस संसार को कोड मुक्त में ही वास करते हैं। जो सब मतों के प्रथक भावों को एक में ही स्थित

समम कर, सव वस्तुओं का विकाश और विस्तार

एकमें ही जानता है, वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

जो शानचन्नु द्वारा स्रेत्र और स्रेत्रक के भेद और · मूतों की प्रकृति से मोच्च होना जानते हैं, वे परमपद

को प्राप्त होते हैं। जीव जवतीनों गुणों से जिनसे सब शरीर उत्पन्न हुये हैं पार हो जाता है, तो जन्म मृत्यु

जरा दुःख से मुक्त हो अमृतानन्द प्राप्त करता है। जो मनुष्य मान और मोह से रहित हैं, जिन्हों ने सक्

दोष को जीत लीया है, जो घातमा में निरन्तर ध्यान लगाये हुये हैं, जो कामनाओं से निवत है, जो सुख

दःखादि द्विंदों से रहित हैं, वे ही अञ्यय पद प्राप्त करते हैं। काम कोघ लोस-नरक के तीन द्वार आत्मा

का नाश करने वाले हैं; इन्हें त्याग देना चाहिये। जो त्याग देते हैं, श्रात्मा का भलाकरते है श्रौर परम गति

को जाते हैं।

**छ. १३ हो** ३१

34

स. १४ हो. २०

व. १५ इते ४

**स.१६ इलो. २१** २२

वुद्धियुक्त होने से शुद्ध हो, धृति से आत्मा को सम अ. १८ रहो। ५१ कर, शब्दादि इन्द्रियों के विषय को छोड़, राग द्वेषादि को छोड, एकान्त में वास कर, थोड़ा भोजन कर, ४२ ंवासी काय श्रोर मन जीत कर ध्यान योग में निरन्तर तत्पर हो, वैराग्य का श्रवलम्बन कर, श्रहंकार वल 43 दर्प काम क्रोध और लोभ को छोड़, ममता से परेही छौर शान्त हो, ब्रह्म झंबस्था प्राप्त करने योग्य मनुष्य होते हैं। पेसे योग्य हो जाने पर वे प्रसन्नातमा हो जाते हैं। उन्हेंन शोच होता है और न उन में कोई कांना रहती है। वे सब जीवों में समभाव हो जाते हैं छौर मेरी परम भक्ति प्राप्त करते हैं । इस भक्ति से वे जानलेते हैं कि मैं वास्तव में क्या है। जब यह जान जाते हैं. तो वे मुक्ती में प्रवेश करते हैं। जो मेरी शरण आकर सवं कर्मों को भी करते रहते हैं, वे मेरी रूपा से ब्राटल और ब्राव्यय पद प्राप्त करलेते हैं।

ं टिप्पणी ।

क्षानमर्ग-कर्ममार्ग-संन्यासमार्ग-मिक्तमार्ग-ध्यानयोग मार्ग थ्रादि, जिन र का गीता में वर्णन है, सबही मादा प्राप्ति के साधन हैं। श्रीकृप्ण मगवान ने इसके लिये कोई एक मार्ग ही निर्दिष्ट नहीं किया है। यदि सूद्रम दृष्टि से देखा जाय, तो ग्रंत में धर्थात् मोद्यावस्था प्राप्त करने के समय में सबही मार्ग एकहो जाते हैं। साम्यवुद्धि निष्कामकार्म, इस श्रवस्था की प्राप्ति के लिये श्रत्यावश्यक है। यह किसी मार्ग से भी क्यों नहीं प्राप्त हो; इस के विना मोद्य नहीं हो सकती है। श्रीकृप्ण मगवान् ने मोद्य प्राप्ति के लिये सभी मार्ग खुते रक्षे हैं।

# विश्वरूपद्शेन।

#### ( ११ वां अध्याय )

3	यर्जुन ने थ्री भगवान् रूप्णचन्द्र जी कहा- हे भगवन् !
	- मेरे ऊपर श्रनुग्रह करके आपने जो परम गुहा
2	ं ग्रध्यात्मदान कहा, उससे मेरा मोह दूर हो गया है। प्राणि-
	यों की उत्पत्ति, संहार तथा ग्रापके महात्म्य का हाल भी
Ą	में ने श्राप से सविस्तार सुना। हे भगवन्! जिस प्रकार
	ष्ट्रापने श्रपना वर्णन किया, मैं उस ऐश्वर्यरूप की
ន	देखना चाहता हूं। यदि आप मुक्ते उस रूप के दर्शन
	करने योग्य समर्भें, तो अपने उस अविनाशीरूप की
	दिखाइये ।
k	श्री भगवाम् ने कहा- हे ब्रार्जुन ! मेरे ब्रासंख्य दिव्य-
	रूपों को देख। उन में नाना प्रकार के वर्ण और विविध
Ę	आकृतियाँ हैं। आदित्य, बसु, रुद्र, अश्वनीकुमार, वायु
	धादि देवताधों को देख। ऐसे अद्भुत रूपों की देख, जो
Ü	पहले कभी नहीं देखे गये हैं। मेरी देह के एक अवयव में
	समस्त चराचर जगत को स्थित देख । श्रौर जो कुछ देखने
5	की इंन्ड्रा करता है, उसे भी देख । तु अपनी इन आंखों से
	इस कंप को नहीं देख सकता है। मैं दिव्य चल्लु देता हूं,
	जिससे तू मेरे पेश्वर्ययोग को देख सकेगा।
Ę	सझय ने धृतराष्ट्र से कहा- उस योगेश्वर श्रीकृष्ण ने
	यह कहकर श्रर्जुन को श्रपना परमेश्वर्य रूप दिखाया। इस
१०	रूप में अनेक मुख हैं, अनेक नेत्र हैं, अनेक अद्भुत इंस्य हैं,
	अनेक दिव्य भूषण हैं और अनेक उठेहुये अस्त्र हैं। उस
₹₹	. में दिव्य मालाएं श्रौर वस्त्र भूषित हैं, दिव्य सुगंधियों का
<b>ર</b> ર	लेप है और सभी तरफ मुख हैं। यदि आकाश में सहस्र

सूर्य एक साथ प्रकाशित हो जावें, तब,कहीं उन का प्रकाश इस विश्वरूप की प्रभा के समान होवे।

ध्यर्जुन ने देवताओं के देवता के शरीर में समस्त जगत को एक ही स्थान में ध्रमेक प्रकार से विभक्त हुआ देखा। उस समय विस्मयपूर्ण और पुलकित रोमांच हो, ध्रमेक चार सिर से नमस्कार कर धौर दोनों हाथ जोड़, ध्रमुंत ने भगवान से कहा-

१ਖ਼

₹₹

हे देव! मैं आप के इस विश्वहर देहमें सब देवताओं को. स्यावर-जङ्गमरूप मूर्तों के समुद्द को, कमलासन पर उप-स्थित सब के नियन्ता ब्रह्मा को, सब ऋषियों को एवं सब दिव्य उरगीं को देखता हूं। हे विश्वेश्वर विश्वरूप! मैं द्याप का ऐसा रूप देखतां हूं जो चारों दिशाओं में फैला हुआहै, े जिल में घनेक हाय, घनेक मुख, घनेक नेत्र आंर घनेक उदर हैं। मैं देखता हूं कि श्राप किरीट पहरे हुये हैं, हाथमें चक्र और गदा लिये हुये हैं। स्राप सर्वत्र प्रकाशवान तेज-पुजरूप हैं। आप अनुपम हैं,और आपके रूप का तेज चारों म्रोर जलती हुई भ्राप्ति अथवा सूर्य के प्रकाश के समान है, जिस के देखने से आंखों को चकाचौंध होती है। आप अविनाणी हैं, जाननेयोग्य सब से बड़ी वस्तु छाए ही हैं, इस विश्व के अन्तिम आश्रय आपही हैं, आप अन्यय हैं, आप अनादि काज से धर्म के रत्तक हैं। मैं ब्राप को सनातन पुरुषं मान ता हूं। आप का आदि, अन्त और मध्य नहीं है, आप श्रमन्त वल वाले हैं, श्राप्के श्रमन्त भुजाएं हैं, सूर्य चन्द्र श्रापके नेत्र हैं। मैं श्रापका मुख जलती हुई श्रग्नि के समान देखता हूं, जो अपने तेजसे सव विश्व को तपा रहा है। आकाश और पथिवी के चीच का भाग अथवा सव दिशाएं आपसे ही व्याप्त हैं। दीनोंबोक आपका अद्भुत

१क

€\$-

१७

-१=

१६

२०

श्रौर उग्रहर देखकर कांप रहे हैं। श्राप में देवताश्रों के समृह प्रवेश कर रहे हैं; कितने ही डरकर हाथ ૨શ जोड़े स्तुति कर रहे हैं, महर्षि और सिद्धों के समृह स्वस्ति स्वस्ति कहकर प्रतिष्वन शब्द के साथ श्रापकी स्तृतियां गारहे हैं। रुद्र, श्रादित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, २२ ग्रश्विन, मस्त, ऊष्मया ग्रथवा गन्धर्व, यस ग्रसुर ग्रौर सिद्धों के संमृह सभी विस्मय पूर्ण हो आपको देख रहें हैं। રક श्राप का ऐसा विशाल रूप देख कर, जिसमें वहे २ मुख, वड़े २ नेम, वड़े २ वाहु, वड़ी २ जींघें, वड़ा उद्र धौर वड़ी कराल डाहें हैं, सब लोग व्यथित हो गये हैं श्रौर मैं भी डर गया है। आपका ऐसा रूप देखने से, जो पृथ्वी से 58 ब्राकाश तक फैला हुआ है, जिसमें अनेक प्रकार के चमकते हुये रङ्ग हैं और जिसमें चमकती हुई विशाल आंखें और खुले हुये मुख हैं, मेरी अन्तरात्मा व्यथित होगई है, न मुफ में शान्ति रही है धौर न धैर्य रहा है। प्रलय की अग्नि के Rk समान प्रज्वतित और भयङ्कर दांतों वाले आप के मुखों को देखने से मुक्ते दिशाओं का ज्ञान भी न रहा है, श्रौर न २ई मुक्त में धर्य ही रहा हैं। हे देवों के देव ! हे जगन्निवास !! मेरे ऊपर कुपा करो। धृतराष्ट्र के ये सब पुत्र (कौरव) अपने राजाओं के झुंडों के सहित तथा भीष्म, द्रोग, कर्ग, ब्रथवा मेरी तरफ के मुख्य र योघा सभी ब्राप के भयंडूर 20 दाढ़ों वाले मुखों में शीघता से प्रवेश कर रहे हैं। कितने ही श्राप के दातों के वीचू में फंस गये हैं और उनके सिर चूर्ण २ होते दिखाई देते हैं। जैसे नदियों की वडी २ वेग-२५ गामी धाराएं समुद्र की तरफ दौड़ कर जाती हैं, वैसेही ये नरलोक के बीर आप के प्रज्वलित मुखं में प्रवेश कर रहे २६ हैं। जैसे जलती हुई अग्नि में नए होने के लिये पतङ्गे वेग

से प्रवेश करते हैं, वैसे ही लोग अपने नाश के लिये आप के मुखों में बेग से प्रवेश कर रहे हैं। आप जलते हुये 30 मुखों से सब भ्रोर सब मनुष्यों को श्रास करते हुये. जिन्हा से स्वाद लेरहे हैं। ग्राप का प्रचग्ड तेज समस्त जगत को प्रकाशित करके जला रहा है। वताइंथे इस उग्र ३१ रूप को धारण करने वाले भ्राप कौन हैं। भ्राप को नमस्कार है। कृपा करो। मैं आपके आदि रूप को जानना चाहवाहूं। में भ्रापकी प्रवृति को नहीं जानता हूं। े श्री भगवान कृपणुचन्द्र जी ने कहा-भें जगत संहार 32 करने वाला काल हूं। संसार का संहार करने के लिये प्रवृत हुआ हूं। ये संव योधा, जो लड़ाई के लिये उपस्थित हैं, नप्र होंगे । केवल तही बचेगा । है अर्जुन ! इसलिये उठ 33 धौर शब्रधों को जीतकर यश प्राप्त कर भौर राज्य की निष्कंटक भाग। इनको तो मैं ने ही मारडाला है। तू केवल 38 निमित्त मात्र वन । द्रोगा, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा ग्रान्य-बीर योधाधों को तो में ने ही मार डाला है। व्यथा मतकर, युद्ध कर । तू अवस्य विपक्तियों को जीतेगा। सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि यह बचन सुनकर किरीटधारी 34 द्यर्जुन ने, जो भय से कांप रहा था और गहद हो रहा था. हाथ जोड बार २ नमस्कार करके श्रीकृष्ण जी से कहा:— ३६

है हपीकेंग ! आपकी कीर्ति से संसार प्रसन्न हो रहा है और अभिनन्दन कर रहा है। राज्ञस लोग डरकर चारों दिशाओं को भाग रहे हैं। सिद्धों के सब समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं। है महात्मन वे क्यों नहीं नमस्कार करें, क्योंकि आपतो जगत कर्ता ब्रह्मा से भी वड़े हैं। आप अविनाशी हैं। सत और असत दोनो से परे हैं। आपही आदि देव हैं, आपही सनातन पुरुष हैं, आपही इस

- ইও

35

विश्व के अन्तिम आश्रय हैं। आपही जानने वाले और श्रापही जानने योग्य वस्तु हैं। श्रापही परम धाम हैं। .श्रापही श्रनन्त रूप हैं श्रौर समस्त जगत श्राप से ही है। 3*Ę* वाय, यम, श्रम्नि, वरुण, चद्रमा, प्रजापति, प्रपितामह, सव ष्राप ही हैं। श्राप को बार २ हज़ार बार नमस्कार है। श्राप को आगे, पीछे श्रंथांत् सभी श्रोर नमस्कार है।श्राप So ध्यनन्त बोर्य ध्यौर ध्यपरमित शक्ति हैं, आप को सब प्राप्त है। द्यतः ग्राप सभी कुक्र हैं। ग्राप को मित्र जानकर ग्रौर धर ध्याप की महिमा नहीं जानते हुये, यदि मैंने भूल प्रथवा स्नेह से ग्राप को, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा, कह कर સર कभी पुकारा हो अथवा हंसी, खेल, कृद, सोने, वैठने, मोजनादि के समय, श्रकेले व दूसरों के सामने कभी कुड़ श्रपमान किया हो, तो उसके लिये श्राप मुक्ते समा करें। ष्ट्राप चराचर संसार के पिता हैं। ब्राप बड़े से बड़े पूजा 83 के योग्य हैं। आप के समान भी कोई नहीं है, तो आप से वडा कोई कैसे होगा। श्रापका श्रनुपमश्रभाव तीनों लोकों में 88 है। इसलिये में आप को साएाक दंडवत् करता हूं। मुक्त पर प्रशन्त हो। जैसे पिता पुत्र को, सखा सखा को, प्रेमी प्रमपात्र को जमा करता है, वैसे ही आप मुक्ते जमा कीजिये। जिस रूप को कभी पहले नहीं देखा था उसे देख 임호 कर में हर्षित हूं, परन्तु मन में डर भी है। आप कृपा कर मुक्ते अपना पहला रूप दिखाइये। हे सहस्रों बाहु श्रीर विश्वरूप वाले ! मैं भ्राप के उसी रूप को देखना चाहता हं, जिसमें ज्ञाप किरीट घारण किये हैं, हाथ में गदा श्रीर चक लिये हुये हैं झौर जिसमें आप की चार भुजाएं हैं ! श्रीमगवान् वोले: श्रजुन ! मेरे श्रातमयोग श्रौर श्रजु-છંહ

. प्रह से तैने मेरा वह तेजोमय अनन्त ग्राह्म परम ग्रीर

विश्वरूप देखा है जिसे कभी किसी ने तेरे खिवा पहले नहीं देखा था। संसार में तेरें सिवा और कोई इस विश्वरूप को न वेदपटन, न यहा, न ध्यान, न दान, न कर्म, न उम्र तप से देख सकता है। इस मयंदूर रूप को देख कर व्यथित मत हो, घवरा मत, भय कोड़, प्रशन्न मन हो और अब मेरे पहले रूप को देखा।

ઇફ

85

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि अर्जुन से यह कह कर श्रीकृष्ण ने अपना निज सौम्यरूप फिर दिखलाया और 'उस डरे हुये का घवड़ाहट दूर किया।

ХO

श्रार्जुन ने कहा-है जनार्दन ! आए के एस मानसी सौम्यरूप को देख मैं सचेत हुआ हूं और अपनी पहली दशा पर आया हूं।

አፄ .

श्री भगवान वोले-मेरे जिस कर को तूने देखा है, उस का दर्शन करना वड़ा कठिन है। इस कर के दर्शन करने के लिये देवता लोग भी सबैव कांसा करते रहते हैं। जिस प्रकार तैने दर्शन किये हैं, वह दर्शन, न वेदों से, नत्तप से, न दान से, न यह से होसकते हैं। परन्तु यह दर्शन अनन्य भक्ति द्वारा होसकते हैं। पेसी भक्ति द्वारा ही भक्त लोग मुमें देख सकते हैं शौर मेरे में प्रवेश भी कर सकते हैं। जो अपने सब कर्म मेरे ही अपंशा कर देता है, जो मुमें ही सब में बड़ा जारिता है, जो मेरा ही भक्त है, जो सब इन्द्रिय विपयो का सङ्ग कोड देता है, जो सब प्राणियों में निवेर रहता है, वही मुमें प्राप्त करता है।

ሂર

ķξ

**k8**'

XX -

# गीतोपदेश की परंपरा।

पट उपदेश में ने (श्रीकृषण ने ) पहले पहल चित्रस्त्रत् को दिया था। चित्रस्त्रत् ने मनु को दिया ॥ ॥ २ श्रीममनु ने इस्त्रायुको दिया, फिरवह राजियों को श्राप हुआ श्रीर समय पन्त्रितन से संस्तार में नए हो चला। ॥ ॥ ३ इसी शानको श्राज में मुसे (श्रार्तुन को ) देता है पयोंकि न् भेग भक्त श्रीर सम्बा, दोनों है। यह परम उत्तम रहस्त्र है।

वा.१८ इति। ७५

Ęζ

Ę٩

,

इनी योग को ज्यास जी की कृपा में मञ्जय ने श्रीप्त किया; पयोंकि जब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इन का उपदेश श्रर्जुन को किया, उसम्मय सञ्जय ने व्यासजी के दिव्य दृष्टि देने से, इसे सुना।

# इसंकी महिमा।

अ. ३ से. ३१ जो श्रद्धावान होकर इसके श्रद्धसार चलने हैं, वे कम्मी से मुक्त हो जाने हैं।

" " <sup>१२</sup> जो इस में दोप निकालते हैं श्रीर इसके श्रमुसार महीं चलते हैं, वे मृह हैं श्रीर उन्हें नष्ट समभो ।

ण. १८ थे. ६० यह शान ऐसे मनुष्य को नहीं देना चाहिये, जो न तपस्त्री ग्रौर न भक्त हो, श्रौ 🖰 ऐसे को जो सुननें

में भीश्रद्धा नहीं रखता हो झौर उलटे दोप निकालता हो। जो इस परम गुहा तत्त्व को भेरी परम भक्ति से भक्तों में फेलावेगा, वह निस्सन्देह मेरे पास पहुँचेगा।

मुक्ते पेले मनुष्य से श्रधिक श्रौर कोई प्रिय नहीं हैं; श्रौर न इस से श्रधिक मेरी सेवा करना है। जो इस धर्म सम्बाद को पढ़ेगा वह निश्चयही । शानयज्ञ द्वारा मेरी धाराधना कर सकेगा।

स. १८ की ७०

जो मनुष्यश्रद्धापूर्वक श्रौर विना दोप निकालने के इसे सुनेगा, वह पापों से मुक्त होकर पुग्यकर्मवालों के शुभलोकों को प्राप्त करेगा। a, ५, ७१

# टिप्पणी ।

जो परम्परा श्रीकृपण ने वर्ताई है, उस से मान्यवर तिजक ने यह सिद्ध किया है कि यह परम्परा भागवत धर्म की ही परम्परा है, क्योंकि जिस निष्काम कर्म का उपदेश गीता में किया गया है, वह प्रथम भागवत धर्म में ही था। यदि गीता में निष्काम कर्म योग ही मुख्य रक्खा जावे, तो इस धर्म की परम्परा भागवत धर्म के सिवा और कहीं नहीं मिलती है। सम्भवहै कि यही हो।

# इति श्री #



# परिशिष्ट (१) ईइवर-गीता।

वहुत से मनुष्य, जो संकृत-साहित्य से अच्छी तरह परिचित नहीं, समभते हैं कि केवल भगवद्गीता ही एक गीता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीताओं में भगवद्गीता सर्वोत्तम है। परन्तु केवल एक यही गीता नहीं है। कितनी ही और गीतांयें भी हैं। अप्रादश पुरायों में से प्रत्येक पुराय में एक या एक से अधिक गीतांयें मिलती हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत, योगवासिष्ठ, अध्यातम-रामायण आदि प्रन्थों में भी गीतांयें हैं। उदाहरणार्थ कुकु गीताओं के नाम नीचे लिखे जाते हैं:—

(१) भगवहीता, (२) ईश्वरगीता, (३) देवीगीता, (४) शिव-गीता, (४) गरेष्शगीता, (६) रामगीता, (७) कपिलगीता, (८) छ्रष्टा-वक्रगीता, (६) छ्रवधूतगीता, (१०) ब्रह्मगीता, (११) सूर्य्यगीता, (१२) यमगीता, (१३) ईसगीता, (१४) पागुडवगीता, (१४) व्याधगीता, (१६) छ्रानुगीता, (१७) व्यासगीता।

गीतायें आध्यात्मिक ज्ञान के भाग्डार हैं। उनमें उच्च से उच्च धार्मिक विचार, गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक तत्त्व, गुद्ध से गुद्ध मिक्तिमाव भरे हैं। उपाधियों को हटा कर आत्मा के गुद्ध निम्मील स्वरूप का आविष्कार करना, वासनाओं को पवित्र वनाना, इन्द्रियों को वश में कांके वृद्धि को स्थिर करना, मायाजाल को काट कर सम्बद्धानन्द परमात्मा के दर्शन कराना—यही सब गीताओं के उद्देश हैं। वेदान्त, सांख्य और योगदर्शनों के तत्त्व उनमें निहित हैं। उपनिपदों के पवित्र विचारों की दिव्य प्रभा से वे प्रभान्वित हैं। नित्य पाठ करने योग्य हैं। क्योंकि उनसे वद कर श्राध्यात्म विषय की वहंत कम पुस्तक हैं।

यदि इन सव गीताओं की समालोचना की जाय तो एक पुस्तक वन जाय। धातएव इस क्षेख में केवल ईश्वर-गीता का ही कुछ वर्णन किया जाता है। ईश्वर-गीता कूर्मपुराण का एक अंश है। इसमें ११ अध्याय और ४६६ क्षोक अनुष्टुष् वृत्त के हैं। कहीं कहीं और वृत्त भी हैं। इसके प्रधान देवता भगवान शङ्कर हैं।

ईश्वर-गीता का कथन पहले पहल भगवान् विप्ता ने, प्रपने कूर्मावतार में, किया था। अनन्तर इसे शिवजी ने बद्रिकाश्चम में नरनारायण के सामने सनसुभार, सनक, सनन्दन, श्रिष्ठरा, भृगु, कणाद, कपिल, गर्ग, वामदेव, शुक्र, धौर विसष्ट ऋषियों को सुनाया। इन ऋषियों से धौर धौर ऋषियों ने इसे सुना। इसी प्रकार परम्परा से यह न्यासजी को प्राप्त हुई। न्यासजी ने शौनकादि को सुनाई। इस समय जो ईश्वर-गीता प्राप्त है वह न्यास जी की ही कही हुई है।

इस गीता के उपदेश के आधार वेदान्त, सांख्य और योगशस्त्र हैं। इन तीनों को मय कर उनका निचोड़ इसमें रख दियागया है। तथापि इसमें वेदान्त-विचारों की अधिकता है। श्रात्मा और ब्रह्म की एकता स्पष्टतापूर्वक दुद्धिमत्ता से दिखाई गई है।

दूसरे, तीसरे, छुठे ध्रोर सातवें श्रध्याय तथा चौथे ध्रौर नवें ध्रध्याय के कुछ ध्रंशों में ध्रात्मा, परमात्मा ध्रौर उनकी एकता का विषय वेदान्तानुसार वर्णन किया गया है। ध्राठवें श्रध्याय में ध्रौर तीसरे तथा सातवें ध्रध्याय के कुछ ग्रंशों में सांख्यसम्बन्धिनी प्रकृति, पुरुष ध्रौर उनके द्वारा संसारोत्पत्ति का विवरण है। ग्यारहवें ध्रध्याय में केवल योग का विषय है। पाँचवें श्रध्याय में परमात्मरूप भगवान शिवजी की स्तुति वड़े ही भावपूर्ण ध्रौर प्रभावशाली वाक्यों में की गई है। दसवें श्रध्याय में ईश्वर के भक्तों ध्रौर प्रियजनों के लक्तण वताये गये हैं। मोत्त का स्वरूप भी वहीं वताया गया है।

इस गीता में धार्मिमक विचारों की गुरुता, दार्शनिक विषयों की गम्भी-रता, मक्ति-भावों की निर्म्मलता और हार्दिक मावों की उदारता खूब ही दिखाई गई है। इसमें सभी धर्म अच्छे कहे गये हैं। किसी की निन्दा नहीं की गई। सभी धर्म्मानुयायी परम-पद को पहुंच सकते हैं। ईरवर की उपासना अनेक प्रकार से हो सकती है। उस के लिए सभी मार्ग खुले हुए हैं। उसकी प्राप्ति सभी मार्गों से हो सकती है। जो शुद्धभाव से फल, फूल, पत्रादि भेट करता है उसे ईरवर प्रहण करता है। मनुष्य चाहे जिस मार्ग से उस की उपासना करे, क्योंकि सभी मार्ग अच्छे हैं, तथापि भक्ति-मार्ग सब से सरल और साध्य है। मोह्नोपलिंध में वह वहुत उपयोगी है। अतपब इस मार्ग की विशेषतया प्रशंसा की गई है।

भगवद्गीता और ईश्वरगीता में बहुत सी वात मिजती हैं। उन में से कुछ का उल्लेख यहां किया जाता है।

- (१) सांख्ये और योग दोनों एक द्वी हैं। इन में मिन्नता नहीं। जो इनमें भिन्नता समकता है वह ज्ञानी नहीं।
- (२) ईश्वर-प्राप्ति सभी मार्गों से हो सकती है। अपने भक्तों को ईश्वर समी मार्गों से स्वीकार करता है।
- (३) सभी मार्ग अच्छे हैं। परन्तु भक्ति-मार्ग सब से सरता और उप-योगी है।
  - (४) दोनों गीताओं में सृष्टि की उत्पत्ति, सांख्यद्शन के विचारों के श्रमुसार ही, कही गई है।
  - (५) भगवद्गीता में जैसे श्रीकृष्णजी ने विश्वरूप दिखाया है वैसे दी श्रेवरगीता में शिवजी ने दिखाया है। इन दोनों विश्वरूपों का वर्णन पकसा है।
  - ( ६ ) विश्वरूप देखने पर जैसी दीन प्रार्थना श्रर्जुन ने की है वैसी ही अधियों ने शिवरूप देखने पर की है।
  - (७) भगवद्गीता में श्री कृप्ण ने अपनी विभृतियां सारे संसार में

- वताई हैं । ईश्वरगीता में महादेवजी ने भी प्रापनी विभृतियां दिखाई हैं ।
- ( = ) ग्रात्मा और ब्रह्म का स्वरूप दोनों गीताओं में एक ही सा वर्गान किया गया है।
- ( ६ ) परमात्मा की सर्वव्यापकता, सर्वेद्यता, विश्वरूपता, ध्रानादिता, ध्रानन्तता दोनों गीताधों में एकसी कही गई है।
- (१०) ईश्वर के भक्तों के लक्तण दोनों में एकही से हैं।
- (११) मोत्त का वर्णन भी एकही सा है।
- (१२) दोनों ही गीताओं में निष्काम कर्म करने का उपदेश है। मनुष्य जो कुछ करे उसे ईश्वर के लिये करे। श्रपने सभी काम ईश्व-रार्पण कर दे।
- (१३) संस्कृत दोनों गीताओं की एकसी है—अर्थात् सरज, सरस श्रीर मनोहर है। बड़े बड़े समास अथवा अलङ्कार, जो पीछे के अन्थों में मिजते हैं, इनमें नहीं।

इससे तथा भीर कारणों से यह कह सकते हैं कि यह गीता भी . उतनी ही प्राचीन है जितनी कि भगवहीता है।

ईश्वर-गीता में इदा और ग्यारहवां अध्याय विजन्नण ही है। छंटे में ईश्वर के जगच्छासन का महत्त्व और प्रभाव दिखाया गया है। यह अध्याय अनेक बार पढ़ने योग्य है।

ग्यारहवें ब्रध्याय में राजयोग का सविस्तार वर्शन है। उसके ब्राव-इयक साधन और कियायें ब्रच्छी तरह लिखी गई हैं। योग का ऐसा वर्शन और किसी गीता में नहीं।

इस गीता का अनुवाद अभीतक हिंदी अथवा अँगरेजी में नहीं हुआ है।

# परिशिष्ट (२)

संस्कृत साहित्य के यासीम सागरतल में गीताकपी अनेक अमुल्य, उज्जवल और निर्मल रल ग्रहरूय पड़े हैं। इन रलों की ज्योति के सामने ससार के बहुमूल्य रल नितान्त मिलन और तिरस्कृत हैं। ये रल उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो इस ग्राम्य यागांध समुद्र में गोता लगा कर उनकी खोज करने की चेप्टा करते हैं। जो केवल अपर ही अपर रह इसके बाह्य हंइय देखकर मोहित हो जाते हैं, वे इन रलगांगडारों से निरन्तर वंश्चित रहते हैं। इन रलों में से श्रीमृज्यंगवदीता एक है, जिसके प्रकाश, प्रभाव और महस्व ने पाश्चात्य सतार के पुरन्धर विद्वान तस्ववेत्ता और दार्शनिक पण्डितों के विचारों में भी हलचन डाल दी है श्चीर जिसकी प्रशंसा भूमग्रहल के सभी विद्वानों ने मुक्तकग्रह से की है। यह एक ही रल नहीं है। ऐसे अनेक रल हैं।

शिवगीता, ईश्वरगीता, ज्यासगीता, ब्रह्मगीता, यमगीता, धनुगीता, देवीगाता, कपिलगीता, अप्यंवक्रगीता, अवध्तगीता, हंसगीता, पाग्डव-गीता, गगेशगीतादि, इन्हीं रत्नों में से हैं। इनमें सिश्चेक गीता एक अमृत्य रत है। अध्ययानन्द साग्रहार की कुञ्जी है, अध्यात्म झान का निर्मल वर्षण है, मोच प्राप्ति का अट्टर लाधन है, तत्त्व झान की चरम सीमा है, संसार सागर के पार उतरने की नौका है, लौकिक और परलौकिक सुख का स्रोत है। इनमें से एक रत्न अर्थात् गगेशगीता के क्षम का कुञ्ज परिचय इस लेख में दिया है। यह गीता गगेशा पुराण के अन्तर्गत है। इसका उपदेश आदिदेव गगेश जी ने राजा वरेगय को किया था, ब्रह्मा जी ने इस उपदेश को ज्यास जी से कहा, ज्यास जी ने स्त जी से और सत जी ने शीनक अपूर्वि से कहा, यही उपदेश की परज्यरा है। यह गीता योगमार्ग-प्रदर्शिती है। इसमें ४१४ अनुष्टुण कुन्द के श्लोक हैं और निम्नलिखित ११ अध्याय हैं:—

१—सांख्यसारार्थ योगो नाम प्रथमोऽन्यायः	श्होक	ÉE
२—कर्मयोगो नाम ब्रितोयोऽच्यायः		83
३—विशान प्रतिपादनो नाम तृतीयोऽध्यायः	57	ko
. ४—वैध सन्यास योगो नाम चतुर्थोऽन्यायः	33	ટ્રહ
५—योगवृत्ति,प्रशंसनो नाम पञ्चमोऽप्यायः	33	રહ
६—बुसि योगो नाम पछोऽध्यायः	53	२१
७—उपासना योगो नाम सप्तमोऽध्यायः	21	<b>3</b> k
<विश्वहर वृश्नो नामाष्टमोऽच्यायः	33	२६
६ — क्षेत्रकारुक्रेय विवेक योगो नाम नवमोऽध्यायः	. "	85
१०—उपदेश योगो नाम दशमोध्यायः	. 59	₹₹
११—त्रिविधवस्तुविवेक निरूपणं नामैकादशोऽप्यायः	. 53	ধ্র

पहला मिश्रा यह है कि योग क्या है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि धानेक अकार के साधनों को योग कहते हैं तथापि योग उसी साधन का नाम है जिससे मनुष्य को धामेद बुद्धि आप हो! समस्त संसार की पृथक् र्वि वस्तु को देखते हुए जानना कि ये सब वास्तव में एक ब्रह्म रूप ही हैं और उनमें कोई वास्तविक भिश्रता नहीं है। जितने देवता हैं सब एकही शह के पृथक् २ कप हैं, परन्तु वास्तव में सब एकही हैं; पेसे बान होने को धामेद बुद्धि कहते हैं। जिस साधन से पेसी धामेद बुद्धि आपत हो, वही योग्य है। इसी धाश्य को धीग्येशजी ने निम्न श्लोक में कहा है:—

शिवे विष्णो च शक्तों च सूर्ये मिय नराधिपः। याऽभेद्बुसियोंगः स सम्यग्योगो मतो मम॥ २१॥ ब्राध्याय १

शिव, विष्णु, शक्ति सूर्य्य धौर गयोश, इन सक्को पकही समस्तना धौर उनमें भेद नहीं जानना श्रेष्ठ योग है।

इस गीता में भौर भगवद्गीता में बहुत कुछ मतसमता है। यह समता निम्नुलिखित विषयों में मिलती है:— योग, कर्मयोग, क्षानयोग, भिक्तयोग, उपासना, व्यक्तान्यक विचार, बोगी अथवा क्षानी को परिभाषा, मोत्त प्राप्ति के साधन, पुष्य पाप विषय विवेचन, विश्वकपदर्शन, दैवी, श्रासुरी श्रौर रात्तसी प्रस्तियों का वर्णन, तप, दान, सुख, क्षानादि का तीन प्रकार से वर्णन, सार्वभौमिक भेष्ठतम सिद्धान्त इत्यादि। श्रव गणेशगीता के इन विषयों का दिन्दर्शन कराते हैं।

#### याग ।

शिवे विष्णीच शकौच स्पें मिय नराधिए।

याऽमेर्नुस्योगः स सम्यायोगो मतो मम ॥ २१ ॥ श्राध्याय १ योगमन्य प्रवस्थाम श्राष्ट्र सूप तमुत्तमम् ।

पशौ पुत्रे तथा मित्रे शतौ वन्शौ सुहज्जने ॥ ४१ ॥ ॥

बहिद्द्रधा च समया हत्स्थयालोकयेत्पुमान् ।

सुन्ने दुःले तथाऽमेर्थे हर्षे भीतौ समोभवेत् ॥ ४२ ॥ ॥

श्रेयोऽयोगे च योग च लाभालाभे मृताविष ॥ ४३ ॥ ॥

समो मां वस्तु जातेषु प्रयनन्तर्वहिः स्थितम् ॥ ४४ ॥ ॥

संपराहृत्य स्वाधेश्य इन्द्रियाणि विवेकतः ।

सर्वत्र समताबुद्धिः स योगो भूप मे मतः ॥ ४७ ॥ श्रध्याय १

श्रात्मानात्मविवेकन या बुद्धिदेव योगतः ।

स्वध्मांसक्तवित्तस्य तथोगो थोगं उच्यते ॥ ४० ॥ ॥

भाषार्थ—शिव, विष्णु, ग्रकि, सूर्य और गयेश इन सबको एक ही समफ्तम भीर उनमें कोई भेद नहीं जानना, श्रेष्ठ योग है। मनुष्य को बाहिये कि पग्र, पुत्र, भित्र, शत्रु, बन्धु, सुहद, इन सब को हदयस्थिता से एक हिंछ से देखे। सुबा दुःख हर्ष श्रोक, भय, रोग, भोग, जय, बिजय, लाम, द्यानाम, योग, द्यागेग मृत्यु आदि में एक ही कृत्ति रक्के। येसी कृति से समस्त वस्तुओं के सीतर और बाहर मुफी को स्थित देखे । विनेक द्वारा इन्द्रियों को स्वार्थ से इटा कर सर्वत्र एक बुद्धि हो जाना ही योग है। शातमा क्या है ? श्रनातमा क्या है ? वेसा विवेक करता हुआ श्रपने धर्म में लगा रहना योग है।

## कर्मधाग ।

यस्य यद्विहितं फर्म तत्कर्तव्यं मद्र्पणम् । ततोऽस्य कर्मवीजानाम् विद्वन्नाः स्यूर्महांकुराः ॥ ३६ ॥ प्राध्याय १ चित्तग्रदिश्च महतीं विज्ञानं साधिका भवेत। पिछानेन हि विज्ञातं परं ब्रह्म मुनीध्वरैः ॥ ३७ ॥ तस्मात्कर्माणि क्वींत वृद्धियुक्ता नराधिय। न त्वक्रमी भवाकोऽपि स्वधमत्यागवांस्तथा ॥ ३८॥ 53 जहाति यदि कर्माणि नतः सिाई न विन्दति । छाड़ी हाने नाधिकारःकर्मग्येव स युंड्यते ॥ ३६॥ 99 कर्मग्रा शुद्ध हृदयोऽभेदवुद्धिमुवैष्यति । स च योगः समाख्यातोऽमृतत्वाय हिकल्पते ॥ ४० ॥ कदाचिदिकयः कोऽपि स्तर्ग नैवाबातिष्ठते । श्रस्वतंत्रः प्रकृतिजै र्गुगैः कर्म च कार्यते ॥ ४ ॥ अध्याय २ कर्मकारीन्द्रियग्राम नियम्यास्ते समरन्पुमान् । तिंडोचरान्भन्दाचित्तो धिगाचारः स भाष्यते ॥ ५ ॥ तद्शामं संनियम्यादौ मनसा कर्म चारभवेत् । 🕗 इन्द्रियः कर्मयोग यो वितृष्णः स परो नृप ॥ ६॥ 23 असमर्प्य निवध्यन्ते कर्म तेन जना मिय । क्वींत सततं कर्मानाशाऽसगो मद्पैणम्॥ =॥ . मदर्थेयानि कर्माणि तानि वधनित न कांचत् । सघासनामेदं कुर्म विशानित देहिन बलात्॥ हो। श्रन्तरात्मानियः श्रीत श्रात्मारामोऽखिलावियः । ष्यात्मतृप्ती नरा यः स्यात्तस्यार्थी नैव विद्यते ॥ १७ ॥

कार्याकार्यकृतीनां स नेवाप्नोति ग्रमाश्रमे । किंचिदस्य न साध्यं स्यात्सर्वजन्तुषु सर्वदा ॥ १८ ॥ श्रध्योय २ ध्यतोऽसंकतयां भूपं कर्तव्यं कर्म जन्त्रभिः। सकोऽंगतिमवाप्नोति मामवाप्नोति ताहराः॥ १६॥ नित्यं नैमित्तिक तस्मान्मयि कर्मार्पयेद्वुधः। त्यक्ताइममता बुद्धि परां गति मवाप्नुयात्॥ ३०॥ 13 ष्ट्रांनी प्यन्ती भक्तिमन्तो ये मयोक्तमिदं शुभम्। श्रेनुतिष्ठन्ति ये सर्वे मुकास्तेऽखिलकर्मभिः॥ ३१॥ कियांचीगो वियोगध्वाप्युभौ मोत्तस्य साधने। तयोर्मध्ये कियायोगस्त्यगात्तस्य विशिष्यते ॥ २ ॥ अध्याय ४ केवलं कर्मणां न्यासं सन्यासं न विदुर्वधाः। क्रविश्वनिच्छया कर्म योगी बह्येच जायते ॥ ६ ॥ तत्सर्वमर्पयेद्वसएयपि कर्म करोति यः। ं न जिप्यते पुराय पाँपैर्मानुर्जलगतो यथा॥ ६॥ कायिकं वाचिकं वौद्धमैन्द्रियं मानसं तथा। त्यक्त्वाशां कर्म कुर्वन्ति योगज्ञाश्चित्त शुद्धये ॥ १० ॥ कामना द्वेपदम्मैर्यद्राहितं नित्यकर्म यत्॥ १४॥ भ्रम्याय ११ · कृतं विना फलेच्छां यत्कर्म सात्विकमुच्यते ॥ १५ ॥ धैर्यात्साही समोऽसिद्धौ सिद्धौ चाविकियस्तुयः। ब्रहंकार विमुक्तो य<sup>ं</sup>स कत्ता सार्त्विकोन्रुप ॥ १५ ॥, 🕝

भावार्थ जो जिसका विहित कर्म है उसे मेरे अर्पण करना चाहिये, इस से मनुष्य में उन कर्मों के बीजों से अच्छे अंकुर उत्पन्न होंगे, चिस्त की शुद्धि भी होगी। यह आत्मज्ञान-प्राप्ति का साधन है और आत्मज्ञान से पर ब्रह्म का ज्ञान होता है। इसलिये बुद्धियुक्त होकर कर्म करना चाहिये। कर्म करना कभी नहीं छोड़ना चाहिये और न अपने धर्म का स्थाग ही करना चाहिये। यदि कर्म करना छोड़ होगे, तो सिवि शासि महीं होगी। पहले पहले जान में श्रिधिकार नहीं है, कर्म करने में ही है। कर्म करके जिसका ह्वय शुद्ध हो गया है उसी की श्रमेद बुद्धि होती है। यह श्रमेद बुद्धि ही श्रेष्ठ योग है जिस से श्रमृत कपी मोस मिजती है।

यदि कोई कर्म किये विना रहना चाहे तो यह बात एक स्तय भी नहीं हो सकती है। मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न हुये गुर्यों से बंधा हुया, स्वयम् कर्म करता है। जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोक कर मन में विषयों का स्मरण करता रहता है, वह इन्द्रियों से मन्द्र वित्त हो जाता है; उसे सदाचारी मनुष्य नहीं कह, सकते हैं जो मनुष्य मनके द्वारा इन्द्रियों को वश में कर के, कर्म करता रहता है वह इन्द्रियों की तथा में कर कर्म करता रहता है वह इन्द्रियों की तथा में कर कर्म योग करता है और यही श्रेष्ठ मनुष्य है। जो मनुष्य मुक्ते अपने कर्म प्रपंण नहीं करते हुए कर्म करते हैं, वे उन कर्मों से वन्धन में पड़ते हैं, परन्तु जो कामना रहित हो अपने कर्मों को मुक्ते अपीया कर के करते हैं उन के कर्मों का नाश हो जाता है अर्थाद उनको वन्धन नहीं होता है।

जो कर्म मेरे अर्पण कर दिये जाते हैं उनसे बन्धन नहीं होता है।
जो कर्म वासना सहित किया जाता है उससे बन्धन होता है। जिनकी
प्रीति भीतर की आत्मा में होती है और जो आत्मा में ही सदैब रमण
करते रहते हैं वे सभी के प्रिय हैं। जो मनुष्य आत्मा में तृप्त रहता है
उसको इन्द्रिय विषय नहीं सताते हैं। येसा मनुष्य चाहे अच्छा बुरा
काम कैसा ही क्यों न करे उसे अच्छा और बुरा फल नहीं लगता है।
इसे संसार भर के जीनों में कोई कर्म करना नहीं रहता है। इस लिये
मनुष्यों को असक हो कर कर्म करना चाहिए; क्यों कि जो सक हो कर
कर्म करते हैं उनकी बुरी गति होती है और जो असक हो कर करते हैं
वे मुक्ते प्राप्त करते हैं। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि ममता और
अहंकार को छोड़ कर अपने नित्य और नैमिसिक कर्म मुक्ते अर्पण कर
दे, जिससे उसकी पराकृति हो।

जो इच्छा त्यम कर मेरे अर्थ कर्म करते हुए भक्ति करते हैं वे सब कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। कर्मयोग और ज्ञान-योग दोनों मोत्त के साधन के हैं। इन दोनों में कर्म-योग कामना त्याग करने के कारण ज्ञानयोग से बढ़ कर है। केवल कर्मों को त्याग देना संन्यास नहीं है। इच्छा छोड़ कर कर्म करने से मनुष्य अहा समान हो जाता है। जो 'मनुष्य कर्म को ईश्वर के समर्पण कर के करता है, उसे पुग्य पाप ऐसे ही नहीं लगते हैं जैसे जल में सूर्य के प्रतिबिग्त को नहीं। योग जानने वाले मनुष्य विक्त की शृक्षि के लिये काय, बचन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और मन से जो कर्म करते हैं, उन्हें आशा छोड़-कर करते हैं। जो कर्म, कामना, द्वेप, दस्भ और कल इच्छा त्याग कर किया जाता है, वह सारिवक कर्म है। श्वेष्मान, उत्साही, सिक्षि, असिद्धि में एकसा अहंकाररहित कर्म करने वाला सारिवक कर्मा कहलाता है।

## न्नान योग।

पश्चमूतानि तत्मात्राः पञ्च कर्मेन्द्रियाणिच । द१ ॥ अध्याय ६ इण्डाव्यकं धृतिह्रेयो सुख दुःखे तथैव च । चेतनासिहतश्चायं समुद्दः चेत्रमुच्यते ॥ ६२ ॥ अध्याय ६ चेतनासिहतश्चायं समुद्दः चेत्रमुच्यते ॥ ६२ ॥ अध्याय ६ श्राकंवं गुरुशुभूषा विरक्तिश्चेन्द्रियार्थतः । शौच चान्तिरदंभग्रच जनमादिदोपवीद्गणम् ॥ २४ ॥ असम्बद्धिद्वामिकरेकान्तित्वं शमो दमः । यतैयं युतं ज्ञानं तज्ज्ञानं विद्धि बाहुज ॥ २४ ॥ अस्विनादीन्द्वियेद्दांनं गुण्युम्गुण्यक्तितम् । अस्वयकं सदसद्विश्वमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥ २७ ॥ अस्वयक्तिस्वयार्थान्तराः पूर्णमस्य तमसः परम् ॥ २६ ॥ अस्वयक्तिस्वयार्थान्तराः पूर्णमस्य तमसः परम् ॥ २६ ॥ अस्वयक्तिस्वयार्थान्तराः परम् ॥ ३६ ॥ अस्वयक्तिस्वयक्तिस्वयार्थान्तराः परम् ॥ ३६ ॥ अस्वयक्तिस्

दुईयं चातिसूर न्याद्दीतानामि भासकम् ।

क्रेयमेतादृशं विद्धि द्वानगम्यं पुरातमम् ॥ २६ ॥ ॥
सर्वेषां मूपयद्वानां द्वानगम्यं पुरातमम् ॥ २६ ॥ ॥
सर्वेषां मूपयद्वानां द्वानगम्यः परामतः ।

प्राखिलं लीयते कर्म द्वानं माद्यस्य साधने ॥ ३६ ॥ प्रध्याय ३
भक्तिमानिद्वियज्ञयी तत्परो ज्ञानमाष्नुयात् ।

लब्ध्वा तत्परमं मोद्यं स्वल्पकालेन यात्वसौ ॥ ४७ ॥ ॥
भक्तिहीनोंऽश्रद्द्धानः सर्वत्र संश्यो तु यः ।

तस्य शं नापि विद्यानमिह लोकोऽथ वापरः ॥ ४५ ॥ ॥

क्रानखद्गप्रहारेण संभूतामद्वतां वलात् ।

द्विन्वान्तः संशयं तस्माद्योगयुक्तो भवेत्ररः ॥ ४० ॥ ॥

## चेन।

भावार्थ-पञ्चभूत, तनमात्रायं, पञ्चकमेन्द्रियां, पंचक्रानेन्द्रियां, धरं-कार, मन, खुद्धि, इच्छा धृति, द्वेष, खुख, दुःख, इन सवका चेतना सहित समृह देत्र कहलाता है।

#### श्वान।

धार्जव, गुरुशुश्रूषा, इन्द्रियों के विषय से विरक्ति, शौच, ज्ञांति, धार्मिमानत्याग, समदृष्टि, दृढ़ भक्ति, एकान्त, शम, दम धौर जन्म धादि के दोषों को देखना; इतने जन्नणों से जो ज्ञान संयुक्त है, उसे क्रान् समस्ते।

#### च्चेय ।

्राजो अनादि, इन्द्रियहीन, गुण्वर्जित तथापि गुणों का भोगने वाला, अमूर्ति, सत् असत् से भिन्न, इन्द्रियों के अर्थ से परे, संसार को पालने वाला, सर्वन्नव्यापी, एक होके भी अनेक दिखाई देने वाला, भीतर वाहर से पूर्ण, सब वस्तुओं के संग से र्हित, अज्ञान अन्धकार से परे, जानने में दुर्जभ, अति स्हम, प्रजाशमान, सस्तुओं का प्रकाश देने वाला; ऐसे ज्ञान साधन की वस्तु को ज्ञेय जाने। सब यहों में ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ हैं, ज्ञान मोद्ता का साधन है, इससे सब कर्मों का लोग हो जाता है। जो मनुष्य जितेन्द्रिय है और मिक्तमान है उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान प्राप्ति से थोड़े ही समय में मोत्त की प्राप्ति हो जाती है। जो मिक्हीन और अद्याहीन है और जिसे संशय रहते हैं, उसे ज्ञान प्राप्ति नहीं होती है, और उसका मजा न इस लोक में और न पर लोक में होता है। अज्ञान को ज्ञान की तजवार से काट देना चाहिये। इससे सब संशयों का नाश हो जाता है; इसजिये मनुष्य को चाहिये कि ज्ञान योग का साधन करे।

## सितायोग।

ह्यानितृष्टात्तयो निष्ठात्कर्म निष्ठात्रराधिप ।

श्रेष्ठो योगी श्रेष्ठतमो भक्तिमात्मिय तेषु यः ॥ २७ ॥ द्रा० ६
भक्तिश्चैवाद्रश्चात्र कार्या परमं मतम् ।
सर्वेषां विद्युषां श्रेष्ठो ह्यक्तिचिज्मकोऽपि भक्तिमान् ॥ ७ ॥ द्रा० ६
भज्ञत्मक्त्या विहीनो यः स चागुडालोऽसिश्रीयते ।
चागुडालोऽपि भज्ञत्मका ब्राह्मग्रेभ्योऽश्विको मम ॥ ५ ॥ ॥
श्रुकाद्याः सनकाद्याश्च पुरामुक्ता हि भक्तितः ।
भक्त्येव मामनुप्राप्ता नारद्दाद्याश्चिरायुषः ॥ ६ ॥ ॥

श्रुकां भक्त्यामयि मनोविधेहि दुद्धिमेव च ।
भक्त्या यज्ञस्व मार्ग्जस्ततो गामेव यास्यसि ॥ १० ॥ श्रुष्याय ६
यहेवान्मज्ञते सक्त्या सात्विको सामता श्रुसा ॥ १६ ॥ ॥ १०

भावार्थ-ज्ञान, तप और कर्म, इनमें एक के पीछे एक श्रेष्ठ है; परन्तु जो मेरी भक्ति करता है, वह सब में श्रेष्ठ है। भक्ति वड़ी है; सब विद्वानों में निरह्मर भक्त भी वढ़ कर है। जो भक्ति के विना भजन करता है, वह चाग्रज्ञाल है, घ्रौर जो चाग्रज्ञाल भी मिक्तिसे भजन करता है, वह सुक्ते ब्राह्मण से भी अधिक है। पहले शुक, सनकादि अपियों ने भिक्त से ही मोह्म पाई है। नारदादि अपि भक्ति से ही मुक्ते प्राप्त करके चिरायु हुए हैं। इसलिय मुक्त में ही भक्ति द्वारा मन घ्रौर चुद्धि को लगाध्यो, भिक्त से ही मेरी पूजा करो। ऐसा करने से तुम मुक्ते अवश्य प्राप्त करोगे। जिस भिक्त से देवतात्र्यों की पूजा की जाती है, वह साच्विकी भिक्त है।

#### उपासना ।

ध्यानाद्येरुपचौरमी तथा पञ्चासृतादिमिः ॥ ६ ॥ ध्याय ७ त्रिविधास्वपि पूजासु श्रेयसी मानसी मता ॥ १० ॥ ,, ,, साप्युत्तमा मता पूजानिच्छ्या या कृता मम । ज्ञह्मचारी गृहस्थो वा चानश्रस्थो यतिश्च यः ॥ ११ ॥ ,, ,, पकां पूजां प्रकुर्वाणोऽप्यन्यां वा सिद्धिमुच्छ्यति॥ १२ ॥ ,, ,,

भावार्थ—मेरी उपासना तीन प्रकार की है, अर्थात् ध्यान उपासना, उपचार उपासना धौर फल, पत्र, पुष्प जंल घादि की भेट उपासना। इन तीनों उपासनाओं में मानसी उपासना श्रेष्ठ है। इसमें भी जो फल-इच्छा कोड़ कर पूजा की जाती है, वह सब में उत्तम है। उपासना करने घाला चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो अथवा संन्यासी हो, जो कोई भी एक पूजा को करता है, उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

# व्यताव्यतः विचार।

श्रव्यक्तोपासनाट्दुःखमधिकं तेन जभ्यते। व्यक्तस्योपासनात्साव्यं तदेवाव्यक्तमक्तितः॥ ६॥ श्रध्याय ६ निर्शुण ब्रह्मं की उपासना करने से मनुष्य को श्रधिक दुःख सहना पड़ता है। सगुग् उपासना सहज है। इससे वही फल मिलता है जो े निर्गुग उपासना से भिलता है।

# योगी ज्ञानी चौर सता।

सर्ये सोमे जले वही शिवे शकौ तथानिले ॥ ४४॥ अध्याय १ हिजेहृदि महानद्यां तीर्थे चेत्रेऽघनाशिनि। विप्णोंच सर्वदेवेषु तथा यत्तोरगेषु च ॥ ४४ ॥ गन्धर्वेषु मनुष्येषु तथा तिर्यग्भवेषु च । सततं मां हि यः पश्येत्सोऽयं योगविदुच्यते ॥ ५६॥ . 55 फलतृंप्णां विहाय स्यात्सदा तृप्तो विसाधनः। उद्यक्तोऽपि कियां कर्त्वेकिचित्रेय करोति सः ॥ २६ ॥ यथ्याय ३ निरोहो निग्रहोतात्मा परित्यक्त परिग्रहः। केवलं वे गृहं कर्माचरकायाति पातकम ॥ २७॥ 55 श्रद्धन्द्वोऽमत्सरो भूत्वा सिङ्य सिङ्योः समरच यः। यथाप्राप्त्येह संतुष्टः कुर्वन्कर्म न वध्यते ॥ २८॥ 17 द्यखिलैविपयैर्मुको ज्ञान विज्ञानवानिए। यज्ञार्थे तस्य सकलं कृतं यन्मयि चार्पितम् ॥ २६ ॥ 93 ज्ञान विज्ञान संयुक्ते द्विजे गवि गजादिए। समेत्तगा महात्मानः पगिडताः रवपचेशानि ॥ १७॥ ग्रध्याय ४ धहारूपं जगत्सर्व पश्यति स्वान्तरात्मनि । पर्व योगश्च संन्यांसः समागफलदायिनौ ॥ ३६॥ .. 11 संहत्ते च रिपत्वे च उद्घारे चैव वन्धने। श्चात्मेनैहात्मनो ह्यात्मा नात्मा भवति कश्चन ॥ ४ ॥ ग्राध्याय ४ मानेऽपमाने दुःखे च सुखेऽसुदृदि साधुपु । मित्रेऽमित्रेऽप्यदासीने हेप्ये लोप्टेच काञ्चने ॥ ४ ॥ 11 समो जितात्मा विश्वानी ज्ञानीन्द्रिय जयावहः॥ 🗧 ॥ 13 एवं कुर्वन्सदा योगीः परां निर्वृतिमृच्छति ।

विश्वस्मित्रिजमातमानं विश्वं च स्वात्मनीत्तते ॥ १४ ॥ " निरहंममाता बुद्धिरद्धेपः शरणः समः । लाभालामे खुःखे दुखे सानामाने सम प्रियः ॥ १४ ॥ श्रध्याय ६ रिपो मित्रेऽथ गर्हायां स्तुतोशोके समः समुत् । मौनी निश्रलधीभक्तिरसंगः स च से प्रियः ॥ १७ ॥ ",

भावार्थ—सूर्य, चन्द्रमा, जल, थ्रानि, ग्रिव, ग्राक्ति, वायु, ग्राह्मण, नदी, तीर्थ, त्रेत्र, विप्तु, यत्त, उरम, गन्धर्च, मनुष्य, पशु, पित्त; इन सब में जो मुक्ती को निरन्तर व्याप्त देखता है, वहीं योगी है। जिसकी फल तृप्त्या चली गई हे थ्रोर जो सदा लृत रहना है थ्रोर जिसका कोई साधन नहीं है, उसे किया करते भी कोई कमें नहीं लगता है। जिसकी श्रात्मा वश में है, जिसको कोई इच्छा नहीं है, जो कोई चीज़ प्रह्मा नहीं करता है, वह कोई कमें भी करता है, तो उसको पाप नहीं होता है। जो निर्द्धन्द्र है, अर्थात् जिसकों गर्मी, सर्दी, सुख, दुःख फुछ नहीं सताते हैं, जिसमें अपनापन छुछ नहीं रहा है, जो सिद्धि थ्रोर थ्रासिद्ध में एकसा ही रहता है, जिसकों जो छुछ मिल जाता है उसी से संतुष्ट रहता है, वह कमें करे नवभी उसे कर्मका बन्धन नहीं होता है, जो सब विपयों से रहिन है, जो झान थ्रोर विज्ञान दोनों में छुशाल है, उस के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं।

महातमा लोग, ज्ञानी छोर छात्रानी ब्राह्मण में पशुद्यों में हाथी छादि जानवरों में छोर कुत्तों में, एक सी दृष्टि रखते हैं। जो छपनी छात्मा में ब्रह्म रूप सब संसार को देखता है, वही योगी छोर वही संन्यासी है। योग छोर संन्यास दोनों का फल एकसा है। मित्र शत्रु में, उद्धार बन्धन में, एक आत्मा ही छात्मा जानो— छनात्मा नहीं। मान, छपमान, सुख दु:ख, शत्रु साधु, मित्र छमित्र, सोना मिट्टी; इन सब में हानी छोर जितेन्द्रिय मनुष्य एकसा हो देखता है। योगी सदा ही बड़ी निवृत्ति की इच्छा करता है, अपनी आत्मा को सब विश्व में छोर सब को अपनी आतम में देखता है। जो मनुष्य निरहंकार ममता बुद्धि रहित है तथा किसी से द्वेप नहीं करता है छोर लाम, अलाम, मुख दुःख, मान अपमान में एकसा है, वहीं मेरा प्रिय भक्त है। जो शबु मित्र में, निन्दा स्तुति में छोर शोक में एकसा रहता है, मौर्ना है, फल की इच्छा नहीं करता हुआ स्थिर बुद्धि से भक्ति करता है, वहीं मेरा प्रिय भक्त है।

## सोचप्राप्ति।

ममताहंक्रती त्यक्त्वा सर्वान्कामांश्च यस्त्यजेत्।
नित्यं ज्ञानरतो मृत्या ज्ञानान्मुक्तिं स यास्त्यति ॥ ६८ ॥ श्रध्याय १ श्रतो भक्त्या मिय मनो विधेहि बुद्धिमेव च ।
भक्त्या यजस्वं मां राजं स्ततो मामेव यास्यितं ॥ १० ॥ श्रध्याय १ नित्यं नैमिसिकं तस्मान्मिय कर्मार्पयेद् बुधः।
त्यक्वाहं ममताबुद्धिं परां गतिमवाप्त्रयात् ॥ ३० ॥ श्रध्याय २ श्रनीर्प्यंन्तो मिक्तमन्तो ये मयोक्तमिदं ग्रुभम्।
श्रवुतिग्रन्ति ये सर्वे मुकास्तेऽखिल कर्मिमः॥ ३१ ॥

भावार्थ — जो ममता, अहंकार तथा कामादि को छोड़कर नित्य हान में लगा रहता है वह हान के छारा मुक्ति प्राप्ति करता है। भक्ति से मेरे में ही मन और बुद्धि लगाओ, भिक्त से मुक्ते प्राप्त कर लोगे। बुद्धिमान मनुष्य की चाहिये कि ममता छोड़, नित्य थोर नैमित्तिक सभी कर्मों की मेरे अर्पण करे: इससे उसे परांगित मिलेगी। जो कामना रहित भक्त ऐसा करते हैं वे सब कर्मों से कूट जाते हैं।

# पाप पुराय ऋोर गति।

पाप।

चिन्तयानस्य विषयान्तगस्तेष्ट्पजायते । कामः सजायते तस्मात्ततः क्रोघोऽभिवर्तते ॥ ५६ ॥ श्रध्यायः १

## पाप निवारगा।

विनाहेषं च रागं च गोचरान्यस्तु खेश्चरेत्।
स्वाधीनहृद्यो वहयेः संतोपं स समृच्कृति ॥ ६१ ॥ श्रध्याय १ '
त्रिविधस्यापि दुःखस्य संतोपे विलयो भवत् ।
प्रश्नयाः सांस्थितश्चायं प्रसन्नहृद्यो भवेत् ॥ ६२ ॥ ,,
विना प्रसादं न मतिर्विना मात्या न भावना ।
विना तां न शमो भूप विना तेन कुतःसुखम् ॥ ६३ ॥ ,,
सन्द्रियाश्वान्विचरतो विषयानजुवर्तते ।
यन्मनस्तन्मतिं हन्याद्पपु नावं मख्द्यथा ॥ ६४ ॥
धुद्ध्वेवमात्मनातमानं संस्तभ्यातमानमात्मना ।
हत्वा शत्रुं कामरूपं परं पदमवाप्नुयात्॥ ४३ ॥ श्रध्याय २

भावार्थ—जो इन्द्रियों को चश में कर के राग द्वेप के विना स्वाधीन हृदय हो जाता है, उसे संतोप प्राप्त होता है; संतोष से तीनों तरह के दुःख जाते रहते हैं। संतोषी मनुष्य की बुद्धि स्थिर होने से प्रसन्न हृदय हो जाता है। ईश्वर की कृपा विना मंति नहीं होती, मित के विना भावना नहीं होती, भावना के विना शान्ति नहीं होती श्रौर शान्ति के विना सुख नहीं होता। इन्द्रियों के श्रश्व विषयों के पीके दौड़ते हैं। जैसे नदी मं नौका को पवन भोके देता है, वैसे ही विषयों में विचरता हुश्या मन, मित को डिगा देता है। बुद्धिमान मनुष्य श्रात्मा से श्रपने को वश में क्रके श्रौर श्रपने श्रात्मवत्त से काम क्रपी शत्रु को जीत कर परंपद को प्राप्त करते हैं।

## सत्संग।

नाना संगाञ्जनः कुर्वन्नैकं साधु समागमम्। करोति तेन संसारे वंधनं समुपैति सः॥ ४१ ॥ श्रध्याय ३ सत्संगाद्गुण्संमूतिरापदां लय एव च। स्वहितं प्राप्यते सवैंरिह लोके परत्र च॥ ४२ ॥ ॥

भावार्थ : जो मनुष्य तरह २ के संग करता है, परन्तु साधु समागम नहीं करता है, उसे संसार वन्धन होता है। सत्संग से सभी गुण प्राप्त होते हैं और सभी आपित्तयों का लोप हो जाता है। सत्संग से इसलोक और परलोक दोंनों में दित होता है।

#### दान।

विधिवाक्य प्रमाणार्थ सत्पात्रे देशकालतः।
श्रद्धया दीयमानं यदानं तत्सात्त्वकं मतम्॥ ७॥ श्रध्याय ११
भावर्थ—विधि श्रीर वाक्य प्रमाणों से देशकाल श्रीर सत् पात्र को
देख कर श्रद्धा पूर्वक दान दिया जाता है, वह सात्विक दान है।

#### सुख।

विषवद्भासते पूर्व दुःखस्यान्तकरं च यत्। इत्यमान तथा ऽऽवृत्त्या यदन्ते ऽमृतवद्भवेत्॥ २२॥ श्रध्याय ११ भावार्थ—जो पहले विप के समान दिखाई दे और जो प्रान्त में दुःख का नाम करे और भ्रान्त में ध्यमृत समान हो जाय, वह सान्विक मुख है।

#### तप।

श्रकोमतः श्रद्धया च यत्तपः सान्विकं च तंत्। श्रृथ्ये सस्कारपूजार्थ सदम्भं राजसं तपः ॥ ५ ॥ श्रध्याय ११

भावार्थ कामना छोड़कर श्रद्धा ने जो तप किया जाता है, वह सात्विक तप है। श्रोर जो ऋष्टि सिज्जि के लिए किया जाय नह गर्वान्वित राजस तप है।

# दैवोप्रक्तति ।

अपैशून्यं द्याऽक्षोधश्चापत्यं धृतिरार्जवम्। तेजोऽभयमहिंखा च ज्ञमा शोचममानिता॥ ३ ॥ अध्याय १०

भावार्थ—निरलोभता, द्या, श्रक्षोध, श्रृति, श्रार्जव, तेज, निडरता, श्रिहेंसा, समा, ग्रौच, मानश्रून्यता-ये लत्तग् देव प्रकृति के हैं।

# श्रासुरी प्रक्रति।

श्रतिवादोऽभिमानश्व द्पोंऽज्ञानं सकोपता ॥ ४ ॥ ग्रध्याय १० भावार्थ—जंलपता, श्रभिमान, द्पं, श्रज्ञान, क्रोध; ये लक्तवा श्रासुरी प्रकृति के हैं।

## राचसी प्रकृति।

निन्दकर्त्वं च वेदानां भक्तानामसुरद्विपाम्॥ ७ ॥	n
मनिशोविजितिसामा स्था स्वित्यसम्बद्धाः ।	77
पार्खग्रह्मक्ये विश्वास्यः संग्रातिमिलिनात्मनाम् ॥ 🕳 ॥	53
सरक्राक्रिकेत्वं सारा स गरास्त्रा ।	,,
थ्यतेककामसावत्वं व्यवदारस्वयासम्बद्धाः ॥ १ ॥	21
परोत्कप्रसिद्धियात्वं पर कत्य प्रसादतिः ।	
रत्यादाः बहुबुश्चान्ये राजस्याः प्रकृतिर्गणाः ॥ १० ॥	;; ;

भापार्थ—तिष्ठुरता, मद, मोह, श्रहंकांर, गर्व, द्वेप, हिंसा, अद्या, कोध, उदंडता, श्रविनय, श्राचाररिहतकर्म क्रूरकर्म में रित, महात्माश्रों के वाक्यों में श्रविश्वास, श्रशौच, कर्म हीनता, वेदों की निन्दा, भक्तों से शश्रुता श्रथवा श्रूपि, मुनि, विष्ण, स्पृति, पुराण श्रादि में निन्दा, पाखराड वातों में विश्वास, तुरी संगति में प्रीति, श्रिभमान हो कर्म करना, दूसरों की वस्तु लेने की इच्छा अनेक कामनाय करना, हमेशा क्रूठ वोलना, दूसरों की वहती देख कर जलना दूसरों की कीर्ति को घटाना; पेसे पेसे श्रनेक लक्षण राज्ञसी प्रकृति के हैं।

#### उपदेश।

तस्मादेतत्समुत्वृज्य देवीं मक्कतिमाश्रय।
भक्ति कुरु मदीयां त्वमनिशं दढ़चेतसा॥१८॥ भ्रध्याय१०
भाषार्थ—इसलिए इसेक्कोड़ देवी प्रकृति का आश्रय लेना चाहिये
और दृढ़ चित्त होकर रात दिन मेरी शक्ति करनी चाहिये।

#### गति।

यो में तत्त्वं विज्ञानाति मोहं त्यज्ञति सोऽखिम् । श्रमेकैर्जनमक्षिरचैवं हात्वा मां मुख्यते ततः॥१२ ॥ श्रम्या ६ भाषार्थ—जो मेरे तस्य की जानता है, उलका सब मीह जाता रहता है। वहुत से जन्मों में यह तस्य जान कर मीत को मास होता है। जो मजुष्य और और अनेक प्रकार के देवताओं को भजते हैं वे उनकी गति को प्राप्त होते हैं। जिसरभावना से मुक्तको मजुष्य भजते हैं, बही वह भावना में उनकी पूरी करता हूँ। में सब को जानता है और मुक्ते कोई नहीं जानता है। जिस जिस देवता का स्मरण भक्ति से करता हुआ मजुष्य शरीर को छोड़ता है, उसी उन भिक्त के प्रभाव से उसी उस देवता के लोक को पहुँचता है। प्रमा, विप्ता, शिव, इन्द्र, इनके लोकों में मजुष्य प्राप्त होकर फिर गिरता है, लेकिन जो मुक्ते प्राप्त कर लेता है उसका पतन नहीं होता है।

# सार्वभौमिकश्रेष्ठ सिद्धान्त ।

येन येन हि भावन संसेवन्ते नरोत्तमाः।
तथा तथा पर्तं तेभ्यः प्रयच्छाम्यव्ययः स्फुटम् ॥ १४ ॥ अध्य य ३
अत्आहर्निगंभूपस्मर्तव्योऽनेकरूपवान् ।
सर्वेपामप्यहं गम्यः स्रोतसामर्णवो यथा ॥ १८ ॥ अध्याय ६
प्रभवं मे विभूतिश्च न देवा अप्रयों विदुः।
नानाविभूतिभिरहं व्याप्य विश्वं प्रतिष्ठितः॥ २४ ॥ अध्याय ७

यद्यच्छेष्टतमं लोके सा विभृतिर्निवोधमे ॥ २४ ॥ " " येन येन हि रूपेण जनो मां पर्युपासते। तथा तथा दर्शयामि तस्मे रूपं सुमाकितः॥ ४० ॥ अध्याय ६

भापार्थ — जो जो जिस जिस भाद से मेरी सेवा करते हैं, उन्हें मैं वैसा वैसा ही फल देता हूँ। मैं अनेक रूपवाला हूँ। रात दिन मेरा ही स्मरण करना चाहिये। जैसे समुद्र में सब आत आते हैं, वैसे ही मेरे पास सब आते हैं। मेरे प्रभाव और विभूतियों को न तो देवता जानते हैं और न अपि जनाते हैं। में अनेक विभूतियों से विश्व को न्याप्त करके स्थित हूँ। संसार में जो अच्छी से अच्छो विभूति हैं, वह मेरी हैं। जिस जिस रूप से मनुष्य मेरी उपासना करते हैं, उसी उसी रूप को मैं भक्तों को दिखाता हूँ।

यह गीता पढ़ने योग्य है। भ्राणा है कि पाठकगण इसे भ्रवश्य पहुँगे।



# परिशिष्ट [३] शुकाष्टक ।

भेदाभेदी सपदिगलिती पुग्यपापे विशीर्गे सायासाची चयसुपगती नष्टसन्देच हते:। शुब्दातीतं चिगुगारितं प्राप्यतच्याववाधं निसैगुग्धे पथि विचरतः काविधिः कानिपधः॥१॥

भाषार्थ—जिसकी सन्देहज़ृति ऐसे तस्य की प्राप्ति में नए हो गई है, जो वागी और तीनों गुगों से पर है, उसमें भेद खभेद दीनों का विचार जाता रहता है, उसके पुराय पाप दोनों त्रय हो जाते हैं, छोर न उसमें मांया मीह रहते हैं। जो तीनों से रहित पथ में विचरने वाला है, उसकी ज कोई विधि कमें) है और न कोई निषेध (कम त्याग) है।

Translation—One whose mind has been purged of doubts by the obtainment of Truth that is inexpressible and unaffected by the triad of the Gunas, relinquishes all ideas of difference and non-difference, becomes free from virtue and sin, and discards all worldly attachments. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary or any prohibitary action.

यद्वात्मानं सक्तवपुषामेक्सम्तर्वहिस्यं द्रष्ट्वा पूर्णं खासिव सततं सर्वभाग्डस्यमेकस् । नान्यत्कार्थं किसप्चि ततः कारणाद्भिन्नक्षपं निम्नेगुखं पयि विघरतः कीविधिः कीविधः॥२॥

भापार्थ—जिसने श्रपनी ही पूर्ण श्रातमा के दर्शन कर लिये हें, जो सब शरीरों के भीतर वाहर है, जो इस जनतहूपी भागड में संदेव एक ही स्थित है, उसके लिये उस परमात्मारूपी कारण के सिवा और कोई दूसरा कार्य कुछ भी नहीं है। जो तीनों गुणों से रहित पथ में विचरते वाला है, उसको न कोई विधि है ग्रीर न कोई निपेध है।

Translation—He who has had a full vision of the Self that is within and without all bodies and that stands eternally One filling all this (grand) receptacle of the universe, sees no cause other than that Supreme Cause. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor prohibitary action.

हिम्नः कार्ये हतवहगतं हममैवितियहत् चौरेचीरं समरसत्या तायमेवाम्बुमध्ये । एवं सर्वे समरसत्या त्वंपदं तत्पदार्थे निसेख्ये पणि विचरतः काविधिः कानिषेधः ॥ ३॥

भाषार्थ—जैसे सुवर्ण की वनी हुई चीज़ श्रानि में डालने से सुवर्ण ही हो जाता है, जैसे दूध, दूध में डालने से एक स्वाद होने के कारण दूध हो हो जाता है, जैसे जल, जल में डालने से जल ही हो जाता है, वैसे ही यह सब (जगत), उस सर्वरूपी पदार्थ में समरसता के कारण ब्रह्म ही हो जाता है। जो तीनों गुण से रहित पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है श्रीर न कोई निष्य है।

Translation —As a thing made of gold is turned into gold thrown into fire; as milk becomes milk thrown into milk; as water becomes water thrown into the midst of water, because of the sameness of the essential matter, so all this (phenomenal world) becomes Brahm in the midst of that all encompassing being (Brahm). For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitary action.

यस्मिन् विश्वं सक्तल भुवनं सामरस्यैक भूतं उवीरियापाऽनलमनिलखं जीवमेवं क्रमेण। यरचाराव्यी समरसत्या सैन्धवैवन्तभूतं निसेगुखे पथि विचरतः काविधिः कानिषधः॥४॥

भाषार्थ—जैसे खारी समुद्र में, समरसता के कारण, नमक एक ही क्ष्य है, वैसे ही उसमें (ब्रह्म में) सकल मुनन तथा आकाश, वायु, अनि, जल, पृथिवी एवं जीव भी समरसता के हेतु एक ही हैं। जो तीनों गुणों से रहित पिंध में विचरने वाला हैं, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—As salt is one with the salt ocean owing to their common nature, just so all the world—sky, air, fire, water, earth and even life\_energy are one in that Eternal Being owing to the one common underlying principle. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitary action.

यदत्रयाद्धि समरसी सागरत्त्वं हावाप्ती तद्दजीवालयपरिगती सामरस्येकभूती भेदातीतं परिचयगतं सिचदानन्दरूपं निम्नेगुग्ये पथि विच्रतः कीविधिः कीनिषधः॥५॥

भाषार्थ—जैसे नदी शौर समुद्र मिल समरसता के कारण दोनों ही सागररूप हो जाते हैं, वैसे ही देह में जीव और परमातमा समरसता से एक ही हैं। इस प्रकार भेद से रहित सर्वान्तर्यामी होने के कारण केवल एक सम्बद्दानन्दरूपी है। जो तीनों गुणों से रहित पर्थ में विचरने वाला है, उसकों न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—As the river and the sea become the ocean owing to their common essential nature, just so the individual soul and the supreme soul in the body are one owing to their common essence. All merged in one becomes only one Secondless blissful and intellegent existence. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitary action.

द्रष्ट्वाविद्यं परमथपदंखात्मविधिखह्मपं बुद्धचात्मनं सक्तवपुषामेकमनाविधिखम्। भृत्वानित्यं सदुदितयाखप्रकाशखह्मपं निम्नेगुण्ये पथि विचरतः कीविधिः कीनिषधः॥६॥

भाषार्थ—श्रकथनीय परमपद स्वात्मवोधस्वरूप को श्रीर संकल शरीरों के भीतर बाहर एक ही स्थित श्रात्मा को देखकर श्रीर संख्व-गुण के उद्रय से नित्य स्वप्रकाशरूप होकर जो तीनो गुणों से रहित पथि में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है श्रीर न कोई निषेध हैं। Translation—For one who having attained the supreme state of the self-knowing entity, having realised the self, prevading all the phenomenal world within and without, and having thus become self-luminous and eternal existence, walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitary action.

कार्याकार्येकिसपिसततं नैवकर्तत्वसस्ति जीवन्मुक्तस्थिति रवगते। दग्धवस्नावभासः । ऐवं देशे प्रविजयगते तिष्टमाना विद्युवता निसेगुर्ये पथि विचरतः क्रीविधिः क्रीनिषधः ॥७॥

भाषार्थ—जिसका कार्य ध्यकार्य में कभी कुछ भी कर्तृत्व नहीं है, जिसने दग्ध वक्षों के समान सब सांसारिक वासनाधों को दग्ध करके जीवनमुकस्थिति पायी है, वह शरीर में रहते हुए भी शरीर नए होने पर वियुक्त के समान है। जो तीनो गुणों से रहित पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—One who has nothing to do with action or inaction, who having burnt up all worldly passions as he has burnt up all his clothes, attains to the goal of the emancipated soul, stands even in this body as if he were a disembodied soul. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitary action.

कस्मात्केष्ठं किमपिच मनान् केष्ट्रियमचप्रपञ्चः स्वस्वेवद्यं गगनसद्भगं पूर्यतत्त्वप्रकाशम् । जानम्दास्यं समरसवने नाम्ब्रमन्तर्विष्ठौने निसेगुण्ये पथि विचरतः केषिविधः केषिनिषेधः ॥ ८॥

भावार्थ—में कौन हूं ?' कहां से आया हूं ? आप कौन हैं ? यह जगत्प्रपञ्च क्या है ? प्रत्येक को अपने जानने योग्य क्या ? जो समरस (ब्रह्मक्प) वन में भीतर बाहर के मेद से रिहत आकाश के समान सर्वव्यापी पूर्णतत्त्व प्रकाशकप आनन्द नामक है अर्थात् जिसे आनन्द के नाम से स्वित करते हैं, वही जानने योग्य वस्तु है। जो तोनों गुणों से रिहत पथ में विचरने वाला है, उसको न कोई विधि है और न कोई निषेध है।

Translation—What and whence am I? Who are you? What is this mirage of the world? What is to be known by everyone? That prefect and luminous entity which is all pervasive like the space and which is free from all bonds of within and without owing to the one common underlying principle and which is designated by the name of bliss, is the only thing worth knowing. For one who walks in the path of truth uncontaminated by the triad of the Gunas, there is neither any mandatary nor any prohibitary action.

# श्रीमद् -

# भगवद्-गीता मूलपोठः

प्रथमो ऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मचेत्रे कुरुचेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाएडवाश्रैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १॥ सञ्जय उवाच । दृष्ट्वा तु पाएडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तद्।। श्राचार्यम्रपसङ्गम्य राजा वचनमत्रवीत् ॥ २ ॥ पश्यैतां पाएडुपुत्राणामाचार्य महतां चमृम् । च्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण चीमता ॥ ३ ॥ श्रत्र शुरा महेष्वासा भीमार्जनसमा युधि। युयुधानो विराटश्र द्रुपद्श्र महारथः ॥ ४ ॥ धृष्टकेतुश्राकितानः काशिराजश्र वीर्यवान्। पुरुजित्कुन्तिभोजञ्च शैव्यञ्च नरपुरुग्वः ॥५॥ युधामन्युश्र विक्रान्त उत्तमीजाश्र वीर्यवान्। सौभद्रो द्रापदयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥ अस्माकं तु विशिष्टा ये तानिवोध दिजोतम । नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थे तान्त्रवीमि ते ॥७॥ भवान्भीष्मश्र कर्णश्र कृपश्र समितिज्ञयः। म्राश्वत्थामा विकर्णाञ्च सौमदत्तिस्तथैव च ।ा**⊏**॥ **अन्ये च वहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविनाः** । नानाश्चमहरखाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥६॥ अपयोप्तं तदस्माकं वर्लं भीष्माभिरचितम्। पर्याप्तं त्विद्मेतेषाम् वर्तं भीमाभिरवितम् ॥१०॥

ध्रयनेषु च सर्वेषु यथाभागमयास्थनाः । भीष्ममेवाभिरचन्तु भवन्तःसर्वे एव हिं ॥११ तस्य सञ्जनयन्हपं कुरुद्धः पिनामहः। सिंहनादं विनद्योर्चः शङ्खं दृश्मी प्रतापवान्॥ १२॥ ततः शङ्खाशं भेर्येश पण्यानकगोपुखाः । सहसंबाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोडभवत्॥ १३॥ नतः धेर्नेहर्यपुक्ते महति स्यन्दने स्थिता । मायवः पारहवर्श्वेव दिन्या शहरता प्रदश्मतुः ॥१४॥ पाञ्चजन्यं हपीकेशो देवदत्तं धनवजयः । पौर्डु द्रथ्मो महाशाङ्व भीमकर्मा बुकोद्रः ॥१५॥ श्चनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्टिरः । नकुलः सहदेवश्र सुघोषमणिपुष्पका ॥ १६ ॥ कारयश्च परमेष्वासः शिखराडी च महारथः । <u> धृष्टग्रम्नो विराटश्र सात्यिकश्रापराजितः ॥ १७ ॥</u> द्रपदो द्रॉपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते । सोभद्रश्च महावाहुः शङ्खान्द्धमुः पृथवपृथकु ॥१८॥ स घोषो धार्तराष्ट्राणा हृदयानि व्यद्रारयत । नभश्र पृथित्री चैत्र तुमुलो न्यनुनाद्यन् ॥ १६ ॥ श्रथ व्यवस्थितान्द्रध्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यमं पाराडवः ॥ २०॥ हृपीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते। श्रार्जुन उवाच ।

श्रजुन उवाच ।
सेनयोरुभयोर्भध्ये रथं स्थापय मेऽच्छुत ॥ २१ ॥
यावदेतात्रिरीचेऽहं योद्धकामनवस्थितान् ।
केमया सह योद्धव्यमस्मित्रणसम्रद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेचेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्पवः ॥ २३ ॥

#### संज्जय उवाच

एवमुक्तो हृपीकेशो गुडाकेशेन भारत। सेनयारुभयोर्भध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४॥ भीष्मद्रोरामधुखतः सर्वेषां च महीचिताम्। उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्क्रुरूनिति ॥ २४ ॥ तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पिनतिृथ पितामहान्। **त्र्याचार्यान्मातुलान्भातृन्युंत्रान्यांत्रान्संलींस्तथा ॥ २६ ॥** श्वश्चरान्सुहद्श्वेव सेनयोरुभयोरपि । तान्समीच्य स कौन्तेयः सर्वान्वन्धृनवास्थितान् ॥ २७॥ कृपया परयाऽऽविष्टो विषीद्विद्मन्नवीत ।

श्राज्ञन उवाच ।

दृष्य्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं सम्रुपस्थितम् ॥ २८ ॥ सीदन्ति मम गात्राणि घुसं च परिशुष्यति । वेपशुश्र शरीरे मे रोमहर्पश्र जायते ॥ २६ ॥ गाएडीवं संसते इस्तास्वनचैव परिद्रहाते । न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमृतीव च मे मनः ॥ ३० ॥ निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव। न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥ न काङ्चे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च्। किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥ येपामर्थे काङ्चितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च । त इमैं इवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥ **त्र्याचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः** । मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्याला सम्वन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥ एतान इन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुस्ट्न । अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं बु महाकृते ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्राद्यः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन । पापेमवाश्रयेदस्मान्द्त्वेतानाततायिनः ॥ ३६ ॥ तस्मामाही वयं इन्तुं धार्तराष्ट्रन्स्ववान्धवान् । स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥ यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहृतचेतसः । क़लच्यकृतं दोपं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८॥ कथं न ज्ञेयमस्माभिःपापादस्मात्रिवर्तितुम् । कुलच्यकृतं दे।पं प्रपरयद्भिर्जनादेन ॥ ३६ ॥ कुलच्चे प्रग्रस्यन्ति कुल्धर्माः सनातनाः । धर्मे नष्टे कुलं कुत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥ श्रधमीभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलिस्रयः । स्त्रीपु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥ सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य व । पतन्ति पितरो ग्रेपां लुप्तपिएडोदकिकयाः ॥ ४२ ॥ दोपॅरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुल्धर्माश्र शाश्वताः ॥ ४३ । उत्सनकुल्धर्माणां मनुष्याणां जनादेन । नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥ श्रहो वत महत्पापं कर्तु व्यवसिता वयम्। यद्राज्यसुखलोभेन इन्तुं स्वजनमुखताः ॥ ४४ ॥ यदि माममतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाण्यः। धार्तराष्ट्रा रखे इन्युस्तन्मे चेमतरं भवेत ॥ ४६ ॥ सञ्जयः उवाच ।

एवग्रुक्ताऽजुनः सङ्ख्ये रथोपस्य उपाविशत् । विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७॥ इति श्री मजगवद्गीतास्पिनपत्सु बाह्यविद्यासं योगशासे श्रीकृष्टकार्जुनसंबादेऽजुनविदादयोगी माम प्रश्नोऽऽप्रायः ।

# द्वितीयोऽध्यायः।

सञ्जय उवाच ।

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्चपूर्याकुलेच्चयम् । विषीदन्तमिदं वाक्यम्रवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

क्कतस्त्वा करमलिमदं विषमे सम्चपस्थितम् । अनार्यज्ञप्रमस्त्रग्यमकीर्तिकरमर्ज्जन ॥ २ ॥ क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतस्वय्युपपद्यते । सुद्रं हृदयदौर्वक्यं त्यक्त्वोत्तिष्ट परन्तप ॥ ३ ॥

श्रर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इपुभिः मतियोत्स्यामि पूजाहीवरिसूदन ॥ ४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान , श्रेयो भोगतुं भैच्यमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव, श्रुञ्जीय भोगाश्विधरमदिग्धान् ॥४॥
न चैतद्विद्वाः कतरको गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामः, तेऽवास्थताः मशुले धार्तराष्टाः॥६॥
कार्परायदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यानिश्चितं ब्रुहि तन्मे,शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७
न हि प्रपत्थामि ममापनुद्याद-यच्छोकशुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
व्यवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं, राज्यं सुराणामीप चाधिपत्यम् ॥ = ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वा हषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः । न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ज्यां वभूव इ ॥ ६ ॥ तम्रुवाच हषीकेशः महसन्तिव भारत । सेनयोरूभयोर्मध्ये विषीदन्तियदं वचः ॥ १०॥

#### श्रीभगवानुवाच |

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं मज्ञावादांश्च भापसे । गतासूनगर्तींसंश्च नानुशोचन्ति पाऐडताः ॥ ११ ॥ न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधियाः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥ देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कामारं यौत्रनं जरा। तथा देहान्तरमाप्तिर्धीरस्तत्र न ग्रुवृति ॥ १३ ॥ मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः! त्र्यागमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितित्वस्व भारत ॥ १४ ॥ यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्पभ । समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। जभयोरिप दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदार्शिभिः ॥ १६॥ श्रविनाारी तु तद्विद्धि येन सर्विमिदं ततम् । विनाशमन्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमहीत ॥ १७ ॥ अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शंरीरिणः। <sup>•</sup>त्रनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्यध्यस्व भारत ॥ १८ ॥ य एनं वेत्ति इन्तारं यश्चैनं मन्यते इतम् । जभौ तौ न विजाानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १६ ॥

न जायते म्रियते कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराखो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥ वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमन्ययम् । कथं स पुरुषः पार्थं कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१॥ वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराखि । तथा शरीराखि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥ नैनं छिन्द्नि शस्ताणि नैनं दहित पावकः ।

न नैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयित मारुतः ॥ २३ ॥

ग्रन्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

ग्रन्यक्षोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वनं नानुशोचितुमहासि ॥ २४ ॥

ग्रथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महावाहो नैनं शोचितुमहीसि ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च ।

श्रव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥ श्रार्थ्यवत्परयति कश्रिदेन माश्रर्थवद्दति तथैव चान्यः। श्रार्थ्यय वच्चैन मन्यःशृ्णोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित ॥२६

तस्मादपुरिहार्थेऽथें न त्वं शोचितुमहीसि ॥२७॥ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

देहिनित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारतः।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमहिसि ॥३०॥
स्वर्थममिष चावेच्य न विकम्पितुमहिसि ।
धम्पीद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्वत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
यहच्छ्रया चोषपत्वं स्वर्गद्दारमपाद्यतम् ।
सुखनःचित्रयाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
स्रथ चेत्विममं धम्पं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततःस्वधमं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
स्रकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽज्याम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिमर्गादितिर्च्यते ॥३४॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येपां च त्वं वहुर्यतो भृत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३४॥

श्रवाच्यवादांश्र बहुन्बदिष्यन्ति तवाहिताः। निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥ हतो वा प्राप्स्यासे स्वर्ग जित्वा वा भोच्यसे महीम् । तस्माद्वत्तिष्ठ कान्तेय युद्धाय कृतनिश्रयः ॥३७॥ सुखदुः ले समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजया। ततो युद्धाय युज्यस्त्र नैव पापमवाप्त्यासि॥३ं=॥ एपा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृखु । चुद्रचा युक्तो चया पार्थ कर्मवन्थ प्रहास्यसि ॥३६॥ नेद्दाभिक्तमनाशोऽस्ति मत्यवायों न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥ च्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेइ कुरुनन्दन। षद्वशाखा ह्यनन्ताश्र बुद्धयोऽन्यवसायिनाम् ॥४१॥ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थे नान्यादस्तीति वादिनः । ४२॥ कामात्मानःस्वर्गपरा चन्मकमकेलपदाम् । कियाविशेपवहुलां भोगैत्वर्यगतिं पति ।।४३॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानांतयाऽपहृतचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिःसमाधौ न विधायते ॥४४॥ त्रेगुरायाविषया वेदा निस्तेगुरायो भवार्जुन ॥ निर्दृन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगच्चेम आत्मवान् ॥४४॥ यावनथै उदपाने सर्वतःसम्प्जुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥ कर्मरायेवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्ममी तै सङगोऽस्त्वकर्माख ॥ ४७ ॥ योगस्थःकुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय । सिद्धासिद्धचोःसमोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८ » द्रेण सवरं कर्म बुद्धयोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणपन्विच्छ कृप्रणाः फलेहतवः ॥४६॥
बुद्धिश्रको जहातीह उमे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगःकर्मसु कौशलम् ॥४०॥
कर्मजं बुद्धिश्रको हि फले त्यक्ता मनीषिणः ।
जन्मवन्धविनिर्भुक्ताःपदं गच्छन्त्यनामयम्॥४१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिव्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥४२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३॥

### अर्जुन उवाच ।

स्थितमज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं मभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥ ५४॥

#### श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

श्रात्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रक्षस्तदोच्यते ॥ ५४ ॥
दुःसेष्वतुद्धिन्मनाः सुस्तेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधिभ्रुनिरूच्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानाभस्नेहस्तत्तत्माप्य श्रुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा मितिष्ठिता ॥ ५७ ॥
यदा सहरते चायं क्रुमेंडिङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियासीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज रसोडप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५६ ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियासि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त त्रासीत मत्परः । बशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य पद्मा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥ ध्यायतो विषयान्धुंसः सङ्गस्तेषुपजायते । सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्कोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥ क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिश्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्मणश्यति ।। ६३ ॥ रागद्वेषवियुक्तेस्तु विषयानिन्द्रियैश्वरन्। **आत्मवरयैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥** मसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नेचतसो बाशु बुद्धिः पर्यवित्रष्ठते ॥ ६५ ॥ नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥ इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोञ्जु विधीयते । तदस्य हरति पन्नां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥ तस्माद्यस्य महावाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ६८ ॥ था निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रीत भूतानि सा निशा पश्यतो ग्रुनेः ॥ ६६ ॥ ष्ट्रापूर्यमाणमचलमतिष्ठं समुद्रमापः मविशन्ति यद्वत् । तद्दत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी७• विहाय कामान्यः सर्वान्प्रमांश्ररति निःस्पृहः । निमेमो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥ एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां शाष्य विग्रह्मति। स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वागुम्ब्छीत ॥ ७२ ॥ इति श्रीमञ्जगबद्गीता सास्ट्स्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

# वृतीयोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्देन । तिर्देक कर्माण घोरे मां नियोजयिस केशव ॥ १ ॥ ज्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे । तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ १ ॥

#### श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन्द्विवधा निष्ठा प्ररा शोक्वा मयाऽन्य । ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥ न कर्मणामनारम्भानिकर्म प्रक्षोऽरतते। न च संन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छित ॥ ४ ॥ न हि कश्चित्वरूपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते बावशः कर्म सर्वः मकृतिजैर्शुग्रैः ॥ प्र ॥ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य त्रास्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमृदातमा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥ यस्त्विन्द्र्शाेख मनसा नियम्यारभतेऽजुर्न । कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७॥ नियतं क्रुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मशः। शरीरयात्राऽपि ते न मासिध्येदकर्मणः ॥ = ॥ यज्ञार्थात्कर्मगोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मवन्धनः । तदर्थं कर्म कीन्तेय मुकसङ्गः समाचर ॥ ६॥ सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । श्चनेन मसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥ देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । चरस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्त्यश् ॥ ११ ॥

इष्ट्रान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैर्दत्तानपदार्यभयो यो भुङ्को स्तेन एवं सः ॥ १२ ॥ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो ग्रुच्यन्ते सर्विकिन्विपः। श्चलते ते त्वयं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥ श्रनाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाञ्चवति पर्जन्धो यज्ञः कर्मसग्रञ्जवः ॥ १४ ॥ कर्म ब्रह्मोद्धवं विद्धि ब्रह्माऽचरसभुद्धवम् । 'तस्यात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं युत्ते प्रातिष्टितम् ॥ १५॥ एवं प्रवर्तितं चक्रं नाजुवत्यतीह यः। अवायुरिन्द्रियारामो मोर्च पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥ यत्स्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । श्रात्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥ नैव तस्य कृतेनार्थी नाकृतेनेह कश्रन । न चास्य सर्वभूतेषु काश्चिदर्थन्यपाश्रयः ॥ १८ ॥ वस्मादसङ्गः सततं कार्यं कमे समाचर । श्रसक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति प्ररुप: ॥ १६ ॥ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकाद्यः। लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमहीस ।। २०॥ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमार्गं कुरुते लोकस्तनुवर्तते ॥ २१ ॥ . न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लाकेषु किञ्चन । नानवाप्तमवाप्त्रव्यं वर्त एव च कंप्रीरा ।। २२ ॥ यदि हाई न वर्तेयं जातु कर्मएयतान्द्रितः । मम बर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यो कर्म चेदहम्। सङ्करस्यं च कर्ता स्याग्रुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मएयविद्वांसी यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथा असक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहस् ॥ २४ ॥ न वृद्धिभेदं जनयेद्द्यानां कर्पसंगिनाम्। जीषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥ प्रकृतेः क्रियमागानि गुगौः कर्माणि सर्वशः। श्रहंकारविमृहात्मा कर्ता उहिमति मन्यते ॥ २७॥ तस्विवत्तु महावाही गुगाकमिविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वां न सज्जेत ॥ २८ ॥ प्रकृतेर्गुण्सम्मृदाः सञ्जन्ते गुणुकमसु । तानकुलनविदो मन्दान्कुलनवित्र विचालयेत् ॥ २६ ॥ मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याउध्यात्मचेतसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्य विगतज्वरः ॥ ३० ॥ ये मे मतमिदं नित्यंमजुतिष्ठान्ति पानवाः । श्रद्धावन्तो अनस्यन्तो सुच्यन्ते ते अपि कर्मभिः ॥ ३१ । ये त्वेतद्भ्यस्यन्तो नाजुतिष्ठन्ति मे मतम्। सर्वज्ञानविमृढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥ सदशं चेष्टते स्वस्याः मक्रतेर्ज्ञानवानिप । मकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥ इन्द्रियस्योन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ । तयोर्न वशमागच्छेत्ता ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥ श्रेयान्स्वधर्मी विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधमें निघनं श्रेयः पर्धमीं भयावहः ॥ ३५ ॥

श्रर्जुन उवाचे । श्रथ केन प्रयुक्तेऽयं पापं चरति पूरुषः । श्रानिच्छ्रविप वार्षोय वलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

#### ओभगवानुवाच ।

काम एप क्रोध एप रजागुग्समुद्धवः यहाशानी महापाप्पा विद्धेयनीमह वैरिशम् ॥ ३७॥ धुमेना अविवते बहिर्यधा अउद्शी मलेन च । यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेद्मावृतम् ॥ ३= ॥ श्राप्टतं ज्ञानमतेन ज्ञानिनो नित्वविरिणा । ं कामरूपेण कॉन्तेय दुष्पृरेगानलेन च ॥ ३६ ॥ इन्द्रियाणि मनो चुद्धिरस्याधिष्टानमुच्यते । एतैर्विमोह्यत्येप ज्ञानमान्त्य देहिनम् ॥ ४० ॥ तस्मान्वमिन्द्रियाएयाद्यां नियम्य भरतप्म। पाप्मानं प्रजीह होनं ज्ञानिवज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥ . इन्द्रियाणि पराएयाहुरिन्द्रियेभ्यः परं गर्नैः। मनसस्तु परा बुद्धियों बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥ एवं बुद्धेः परं बुध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना । जिह शत्रुं महावाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३॥ इति श्रीमद्भगवद्गीताम्प० कर्मयोगो नाम तृतीयो अध्यार

#### श्रीमगवानुवाच ।

इमं विवस्तते योगं प्रोक्तवानहमन्ययम् । विवस्त्रान्मनवे माह मत्तुरिच्चाकवे अवर्वात् ॥ १ ॥ एवं परन्परामाप्तिमें राजर्पयो विद्धः । स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥ स एवा उपं मया ते अय योगः मोक्नः पुरातनः । यक्तो असि में सत्ता चेति रहस्यं होतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

#### श्रर्जुन उवाच (

श्रपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः । फथमेतद्विजानीयां त्वमादो पोक्कवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पद्दनि में व्यतीतानि जन्मानि तत्र चार्जुन I तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्य परन्तप ॥ ४ ॥ ध्यजोऽपि सचन्ययात्मा मृतानामीखराऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामयात्ममायया ॥ ६ ॥ यदा यदा हि धमस्य ग्लानिभवति भारत। अभ्यत्थान यथमस्य तदाऽऽत्मानं सजाम्यहम् ॥ ७ ॥ परित्राखाय साधनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थीय सम्भदामि युगे युगे ॥ = ॥ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्ता देहं पुनर्जन्य नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ६ ॥ वीतरागभयंकोधा मन्यया माम्रपाश्रिताः। वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १०॥ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजान्यहम् । मम वर्त्मानुर्वतन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥ काङ्बन्तः कर्मणां सिद्धि यजन्त इह देवताः । चिमं हि मानुपे लोके सिद्धिभवति कर्मजा ॥ १२ ॥ चातुर्वर्र्य यया सृष्टं गुराकपीविभागशः। तस्य कर्तारमीप मां विद्धचकर्तारमन्ययम् ॥ १३ ॥ न मां कर्याणि लिम्पन्ति न में कर्मफले स्पृहा । इति यां योऽभिजानाति कर्मभिनं स वद्धचते ॥ १४ ॥ एवं ज्ञात्वा कतं कर्म पूर्वरंपि छुसुन्तभिः ॥ १५ ॥ क्कुरु कमेव तस्मान्त्रं पूर्वेः पृर्वतरं छतम् ॥ १५ ॥

कि कर्म किमकर्मेति कचयोऽप्यत्र मोहिताः। तंत्रे कर्ग प्रवच्यामि यज्ज्ञात्वा मोच्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥ फर्मणो ह्यपि वोद्धव्यं वोद्धव्यं च विकर्मणः । श्रकमेण्थ वोद्धव्यं गहना कर्मणो गंतिः ॥ १७ ॥ फर्मेएयकर्म यः पश्येदकर्मिश च कर्म यः । स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्सनकर्मकृत् ॥ १८ ॥ यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माग्रं नमाहुः परिदत्तं बुधाः ॥ १६ ॥ स्यन्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः । फर्मएयभिषवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥ निराशीर्यतिचत्तात्मा त्यक्कसर्वपरिग्रहः । शारीरं केवलं कर्म कुर्वञाप्नोति किल्विपम् ॥ २१ ॥ यहच्छालाभसन्तुष्टो इन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कुत्वाऽपि न निवद्धचते ॥ २२ ॥ गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानायस्थितचेतसः । यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥ बसार्पणं बस हविबेसांग्नी बस्ता हुत्य । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मेसमाधिना ॥ २४ ॥ दैवमेवापेर यज्ञं योगिनः पर्युपासते । ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपज्ञ हुति ॥ २५ ॥ भोलादीनीन्द्रियाएयन्ये संयमाग्निपु जु हुति । शन्दादीन्त्रिययानन्य इन्द्रियाग्निषु:जु हुति ॥ २६ ॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि पाणकर्माणि चापरे। भारमस्यमयोगामौ जु हुति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

द्रव्ययद्वास्तपायज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्र यतयः संशितत्रताः ॥ २= ॥ श्रपाने जु हुति मार्ग मागेऽपानं तथाऽपरे। प्रायापानगती रुध्वा प्रायायपपराययाः ॥ २६ ॥ श्चपरे नियताहाराः माणान्माणेषु जु हुति । सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञज्ञपितकल्मषाः ॥ २०॥ यज्ञशिष्टासृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नार्य लोकोऽस्त्ययद्गस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥ एवं वहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्त्रिद्ध तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोच्यसे ॥३२ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाचज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप । सर्वं कमीखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३॥ तद्विद्धि प्रशिपातन परिप्रश्लेन सेवया । डपदेच्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४॥ यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यास पाएडव । येन भूतान्यशेषेण द्रच्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३४॥ श्रापि चेदासि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्व ज्ञानप्लवेनैव द्यजिनं सन्तारिष्यासि ॥ ३६ ॥ यथैथांसि समिद्धोऽप्रिर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । श्चानाग्निः सर्वकर्माणि थस्पसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥ न हि ज्ञानेन सदशं पवित्रमिह विद्यते। त्रस्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि त्रिन्दति ॥ ३८ ॥ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। म्रानं लब्बा परां शान्तियचिरेगाधियच्छति॥ ३६॥

श्रज्ञश्राश्रद्दधानश्च संश्वातमा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संश्वातमनः ॥ ४० ॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसिङ्ग्लनसंश्वयम् ।
श्रात्मवन्तं न कर्माणि निवध्नन्ति धनङ्गय ॥ ४१ ॥
तस्माद्ज्ञानराम्भूतं हृत्स्यं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
क्रिस्वनं संश्वयं योगमातिष्टोनिष्ट भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतास्प० ज्ञानिभागयोगो नाम चतुर्थोऽध्याय:

श्रर्जुन उनाच । संन्यासं कर्मणां कृप्ण पुनर्योगं च शंसति । यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे बृहि सुनिश्चितम् ॥ १॥ श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगथ निःश्रेयसकरावुर्धा ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
क्षेत्रः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्चति ।
निर्दृन्द्वो हि महावाहो सुखं वन्धात्मप्रुच्यते ॥ ३ ॥
साङ्ख्ययोगौ पृथ्ग्वालाः प्रवद्नितन परिष्डताः!
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोविन्द्ते फलस् ॥ ४ ॥
यत्साङ्ख्यः प्राप्यते स्थानं तद्योगरिप गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ४ ॥
संन्यासस्तु महावाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो प्रिविद्वस न चिरेणाधिगच्छिते ॥ ६ ॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वभि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किश्चित्करोभीति युक्तो मन्येत तन्त्ववित् ।
पश्यन्थ्यवनस्पृश्विद्वस्वसन्यक्षक्रन्थसनस्वपन् ॥ = ॥

प्रलपन्त्रियुजन्युह्वन्तुन्मिपन्निमिषत्रीप । इद्रिन्यासीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ६ ॥ ब्रह्मएयाथाय कमीिश सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रामवाम्भसा ॥ १० ॥ कायेन मनसा बुद्धचा केवलैरिन्द्रियरीप *।* योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥ युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्टिकीम् । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निवध्यते ॥ १२ ॥ सर्वकर्पाणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे प्रेर देही नैव कुर्वच कारयन् ॥ १३ ॥ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रद्धः। न कर्मफलसंयोगं स्त्रभावस्तु भवतेते ॥ १४ ॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चेत्र सुकृतं विश्वः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥ ज्ञानेन तु तद्ज्ञानं येथां नाशितमात्मनः । तेयामादित्यवच्डानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥ तब्दुद्धयस्तदात्मानस्तिश्रष्टास्तत्वरायणाः । गच्छन्त्यपुनराष्ट्रत्तिं ज्ञाननिधृतकल्मपाः ॥ १७ ॥ विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। श्रुनि चैव श्वपाके च परिडताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥ व इहैंव तैजितः सर्गो तेषां साम्ये स्थितं मनः। निर्देषं हि समं ब्रह्म तस्माद्बाह्मिण ते स्थिताः॥ १६॥ न महप्येत्मियं माप्य नोहिजेत्नाप्य चानियम्। स्थिरबुद्धिरसम्भूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २०॥

वाह्यस्पर्शेष्यसकतातमा विन्दत्यातमनि यत्सुखम् । स ब्रह्मयोगंयुक्तात्मा सुखमच्च्यमरनुते ॥ २४ ॥ ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। श्राचन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते वृषः ॥ २२ ॥ शक्तेातीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरिविमोच्चणात्। कामक्रोधोद्धवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥ योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः । स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४॥ लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृपयः चीणकल्मपाः । छिन्नद्वेधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥ कामकोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । श्रभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्वनाम् ॥ २६ ॥ स्पर्शान्कृत्वा वहिर्वाद्यांश्रज्जुश्रैवान्तर भ्रवोः । प्राणापानी सुमी कृत्वा नासाभ्यन्तर्चारिणी ॥ २७। यतेन्द्रियमनोद्युद्धिर्भ्वानेवोत्त्वपरायगाः । विगतेच्छाभयकोधो यः सदा ग्रुक्त एव सः ॥ २८ ॥ भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतास्प० सन्यासयोगो नाम पश्वमोऽध्याय:

#### श्रीभगवानुवाच ।

स्रनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निराप्तिन चाक्तियः॥ १॥ यं संन्यासमिति पाहुयोगं तं विद्धि पाएडव । न श्रसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कथन ॥ २॥

श्राकुरुद्योप्नेनेयोगं कर्म कारणभुष्यते। योगीरूढस्य तस्यैव शमः कारग्रमुच्यते ॥ ३॥ यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥ उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसाद्दयेतु । **ब्यात्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥** बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः । श्रनात्मनस्तु शबुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥ जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। शीतोष्र्णसुखदुःखेषु तथाःमानापमानयोः॥ ७ ॥ ज्ञानाविज्ञानतृप्तात्मा कूट्स्थो विजितेन्द्रियः । युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टारमकाश्चनः॥ 🕫 ॥ सुद्दीन्मत्रार्युदासीनमध्यस्थेद्वष्यवनधुषु । साधुष्विप च पापेषु समशुद्धिर्विशिष्यते ॥ ६ ॥ योगी युद्धीत सततमात्मानं रहासि स्थितः । एकाकी यतिचत्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥ श्चचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत्तिचेनिद्रयक्रियः । उपविश्यासने युक्त्याचागमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥ समं कायशिराग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः । सम्पेच्य नासिकाग्रं स्वं दिशवानवलोकयत्।। १३। मशान्तात्मा विगतभीविद्याचारित्रते स्थितः। मनः संयम्य मन्चित्तो युक्तं आसीत मत्परः ॥ १४ ॥ युझनेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः । शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छ्ति ॥ १५ ॥

नात्यश्रतस्त योगोऽस्ति न चकान्तमनश्रतः। न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ११ युक्ताहारविद्वारस्य युक्तचेष्टस्यं कर्मसु । युक्तस्त्रप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥ चदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते । निः सपृद्दः सर्वकामेभ्यो सुक्र इंत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥ यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता । योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १६ ॥ यत्रापरमत चित्तं निरुद्धं यागसेवया। यत्र चैवात्मनाऽऽस्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥ सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राखमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत न चैवाऽयं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्धियतो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ २२ ॥ तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् । स निश्चयेन योक्तव्यो योगो अनिर्विष्रण्चेतसाँ ॥ २३॥ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेपतः। मनसेंबेन्द्रियंग्रामं विनियम्य समन्ततः २४ ॥ शनैःशनैरुपरमेदं बुद्धचा धृतिमृहीतचा १ श्रात्मसंस्थं भनः कुत्वा न किश्चिद्पि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥ यतो यतो निश्चरति मनश्रञ्जलमस्थिरम्। लतस्ततो नियम्येतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥ प्रशान्तयनसं होन योगिनं सुखग्रुत्तम्म् । चपेति शान्तरजसं ब्रह्मसूतमकल्मपम् ॥ २७॥ युञ्जनेतं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मपः । सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमन्यन्तं सुखमर्जुते ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभृतानि चात्मानि । ईच्ते योगयुकात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २६ ॥ यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मिय पश्यति ॥ तस्याहं न प्रणुश्यामि स च मे न प्रणुश्यति ॥ ३० ॥ सर्वभृतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥ सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मिय वर्तते ॥ ३१ ॥ स्रात्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ॥ सुनं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच 🛭

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसुदन । एतस्याहं न पश्यामि चश्चलत्वातस्थिति स्थिराम् ॥ ३३ ॥ चश्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद् दृढम् । तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवातुवाच ।

असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् । अभ्यासेनतु कौन्तेय वैराग्येश च मृत्तते ॥ ३५ ॥ असंयतात्मना योगो दुष्पाप इति मे मतिः । वस्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

श्रार्जुनउवाच ।

श्रयितः श्रद्धयोपेतो योगाच्चालितमानसः । श्रमाप्य योगसंसिद्धि कां गति कृष्ण गच्छति ॥ ३७॥ कच्चित्राभयविभृष्टारिक्ठचाभूमिव नश्यति । श्रमतिष्ठो महावाहो विभृदो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥ एतं मे संशयं कृष्ण छैत्तुमर्हस्यशेषतः । त्वटन्यः संशयस्यास्य छेता नह्युष्यवते ३६॥

1

#### श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। म हि कल्याणकृत्काञ्चिदगीतं तात गच्छति ॥ ४० ॥ प्राप्य पुरायकृतां लोकानुपित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमनां गेहे योगभृष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥ श्रथवा योगिनामेव कुले भवीत धीमताम्। प्तिष्द दुर्लभतरं लोके जन्म यदीरंशम् ॥ ४२ ॥ तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पार्वदेशिकम्। यनते च ततो भूयः संसिद्धा कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥ पूर्वाभ्यासेन तेनेव हियंते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि यागस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥ पयनाद्यतमानस्त योगी संश्रद्धकिल्विपः । श्रनेकजन्मसं।सिद्धस्ततां याति परां गातिम् ॥ ४५ ॥ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यरचाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥ योगिनाभिप सर्वेषां महतेनान्तरात्पना । श्रद्धावान्भजते यो मा स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७॥

इति श्रामञ्जावद्गीता । अध्यास्मयोगी नाम प्रष्टोऽध्यायः ।



# सप्तमो ऽध्यायः ।

#### श्रीभगवानुवाच.।

मय्यासक्रमनाः पार्थ योगं युज्जन्मदाश्रयः। श्रमंशय समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छुणु ॥ १ ॥ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानिमदं वच्त्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवंशिष्यते ॥ २ ॥ मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिचतति सिद्धये । यततामाप सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥ भृमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । . श्रहंकार इतीयं मे भिन्ना मकृतिरष्ट्या ॥ ४ ॥ श्चपरेयमितस्त्वन्यां मक्ततिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महावाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥ एतद्योनीनि भुतानि सर्वाणीत्युपधारय । त्रहं कृत्स्त्रस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥ मत्तः परतरं नान्यात्किश्चिद्स्ति धनञ्जय । मिय सर्वमिदं शेतं सूत्रे मिश्रगणा इव ॥ ७॥ रसोऽहमप्स कौन्तेय मभाऽस्मिं शाशिसूर्ययोः । मणवः सर्ववेदेषु शब्दः स्वे पौरुषं नृषु ॥ = ॥ पुरायो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्रास्मि विभावसौ । जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ६ ॥ वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। चुद्धिचुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजास्विनामहम् ॥ १० ॥ वलं वलवतामस्मि कामरागतिवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

ये चैव सान्त्रिका भावा राजसास्तामसाथ ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मिय ॥ १२ ॥ त्रिभिर्श्र्यमयैभीवरेभिः सर्वमिदं जगत । मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमञ्ययम् ॥ १३ ॥ देवी होषा गुरूमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये पपद्यन्ते पायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥ न मां दुफ्हातिनो मृहाः प्रवचनते नराधमाः । माययाऽपद्दतज्ञाना आसुरं भावमांश्रिताः ॥ १५ ॥ चहुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो ॐर्जुन । आती जिज्ञासुरथीयीं ज्ञानी च भरतप्रेम ॥ १३ ॥ तेपां ज्ञानी नित्युक एकभिक्विंशिष्यते । पियो हि ज्ञानिनो अत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । श्रास्थितः स हि युकात्मा मावेवाजुत्तमा ,गतिम् ॥ १८ ॥ बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्यां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १६ ॥ कामैस्तैस्तैईतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्त्रया ॥ २० ॥ यो यो यां ततुं भकः अद्भया उचित्रिमच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विद्धाम्यहम् ॥ २१ ॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयेव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥ अन्तवत्तु फर्ल तेथां तद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान्देवयजो यान्ति मञ्जला यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

श्रव्यकं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामनुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममान्द्यमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
नाइं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमाद्यः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥
वेदाइं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्रन ॥ २६ ॥
इच्छांद्वपसमुत्येन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोइं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥
येपां त्वन्तगनं पापं जनानां प्रायक्षमणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहीनम्रिका भजन्ते मां दृढत्रताः ॥ २८ ॥
जरामरण्मीत्वाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तदिदुः कृत्कमध्यात्यं कर्म चालिलम् ॥ २६ ॥
साधिभूताधिदेवं मां साधियक्तं च ये विदुः ।
श्रयाग्रकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति र्मान्यगवद्गीता० ज्ञानयोगो नाम सहमोऽध्यायः।



## च्च्रष्टमो <u>८ध्यायः</u> ।

श्रर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुपोत्तम ।

श्रिधिभूतं च किं मोक्तमिषदेवं किम्रुच्यते ॥ १ ॥

श्रिधियज्ञः कथं को उत् देहे अस्मिन्मधुमूद्दन ।

प्रयाणकाल च कथं ज्ञेषो असि नियतात्मिभः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

श्रव्तरं ब्रह्म परमं स्वभावो अध्यात्ममुच्यते । भूतभावोद्भवकरा विसर्गः कर्मसंक्षितः ॥ ३ ॥ श्रीथभूतं चरो भावः पुरुपश्राधिदेवतम् । श्रिधियज्ञो अहमेवात्र देहे देहसृतां वर ॥ ४ ॥ अन्तकाले च मामेव स्मरन्ग्रक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संश्वयः ॥ ४ ॥ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च । मय्यर्पितमनेाचुिद्धर्मामेवैष्यस्यसंशासम् ॥ ७ ॥ श्रभ्यासयोगयुक्केन चेतसा नान्यगामिना। परमं पुरुपं दिन्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ 🗸 ॥ कवि पुराखमनुशासितारमखोरखीयांसमर्नुस्मेरचः । सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्शं तुमसः परस्तात् ॥६॥ प्रयासकाले मनसा अचलेन भक्त्या युक्तो योगवलेन चैव । भुवोर्मध्ये पाखमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुपमुपैति दिव्यम् १० यद्त्रं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यादिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेगा पवच्ये।।११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मुर्ध्न्योधायात्मनः त्राखमास्थितो योगधारखाम् ॥ १२ ॥ श्रोमित्येकाचरं ब्रह्म व्याहरन्मायनसमरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति प्रमां मित्र ॥ १३ ॥ श्चनन्यचेताः सततं यो मां स्परति नित्यशः । तस्याई सुल्भः पार्थ नित्ययुक्रस्य योगिनः ॥ १४ ॥ मामुपेत्य प्रनर्जनम दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्तुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥ **त्राब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनो**उर्जुन । मामुपेत्य तु कीन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्वसागो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां ते उहारात्रविदो जनाः ॥ १७॥ अध्यक्ताद्वधक्रयः सर्वा मभवन्त्यहरागमे । रात्र्यागमे मलीयन्ते ततुैचान्यक्रसंज्ञके ॥ १८ ॥ भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भृत्वा भलीयते । रात्र्यागमे अत्रशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ ४६ ॥ परस्तस्मानु भावोऽज्योऽव्यक्नो ऽव्यक्तात्सनातनः । यः स सर्वेषुं भूतेषु नंश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥ थ्यव्यकोऽत्तुर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । 👉 ये माप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥ पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्विभिदं ततम् ॥ २२ त यत्र काले दिनाद्याचिमाद्याचि चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वच्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥ श्रीनिज्योतिरहः शुक्लः परमासा उत्तरायग्रम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रन्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः पर्णमासा दानिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतियोंगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शास्वते मते ।
एकया यात्यनाद्यत्तिमन्ययाॐ वर्तते पुनः ॥ २६ ॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगमुक्तो भवार्जन ॥ २७ ॥
वेदेषु यक्नेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुर्यक्तं मिद्दृष्म् ।
अस्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानभुपति चाद्यम् २=

इति श्रीमञ्जगवद्गीता • योगगाखेऽच्रत्यह्मयोगी नामाष्टमोऽध्यायः।



# नवमोऽध्याय।

श्रीभगवानुवाच |

. इदं तु ते गुद्यतमं मवच्याम्यनसूयवे । ज्ञानं विज्ञानसहितं यञ्ज्ञात्वा मोच्यसे <u>अं</u>शुभात् ॥ १ ॥ राजविद्या राजगुद्धं पवित्रमिद्मुत्तमम्। पत्यचावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमन्ययम् ॥ २ ॥ अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप । श्रप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्माने ॥ ३ ॥ यया ततमिदं सर्वं जगदन्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥ न च मत्स्थानिं भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भृतभृत्र च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥ तथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥ सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकास्। कल्पच्ये पुनस्तानि कल्पादौ विस्रजाम्यंह्य् ॥ ७॥ मकृति स्वामवष्टभ्य विसंजामि पुनः पुनः । भूतव्रामिमं कृत्त्नमवशं शक्तुतेवशात्।। 🗢 ॥ न च मां तानि कर्माणि निवध्नन्ति धनक्षय। उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ६॥ मयाऽध्यचेगा प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगदिपरिवर्तते ॥ १०॥ श्रवजानन्तिं मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं मावमजानन्तो मम मूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥ मोघाशा मोघकर्माशो मोघज्ञान् विचेतसः।

राज्ञसीयासरी चैव प्रकृति मोहिनी श्रिताः ॥ १२ ॥ महात्मानस्तु मां पार्थ देवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भृतादिमन्ययम् ॥ १३ ॥ सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढवता : । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥ ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो माग्रपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतामुखम् ॥ १५ ॥ अहं कतरहे यज्ञः स्वयाऽहमहमीपधम् । मन्त्रो अहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६॥ पिता इसस्य जगतो माता थाता पितामहः। वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥ गतिभेर्ता प्रभुः साची निवासः शर्गं सुहत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं वीजमब्दयम् ॥ १८ ॥ तपाम्यहमहं वर्षं निग्रह्णाम्युत्मृजामि च । त्रमृतं चैव मृत्युश्र सदसच्चाहमर्जुन ॥ १६ ॥ त्रैविद्या मां सोमपाः पुतपापाः यज्ञैरिष्टवा स्वर्गतिं नार्थयन्ते। ते प्रथमासाद्य सुरेन्द्रलोक-मश्ननित दिव्यान्दिवि देवंभीगान् ॥ २० ॥. ते तं अक्तवा स्वर्गलांक विशालम् चीर्षे पुरुषे मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः गतागर्त कांमकांमा लभन्ते ॥ २१ ॥ श्रनन्याश्रिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेपां नित्याभियुक्तानां योगचेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवतामक्का यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः । ते अपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥ श्यहं हि सर्वयहानां भोका च प्रश्रुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवान्ति ते ॥ २४ ॥ यान्ति देवज्ञता देवान् पिवृन्यान्ति पितृज्ञताः। भुतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्यांजिनोडपि माम् ॥२५॥ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या मयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥ यत्करोषिं यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यासि कीन्तेय तत्कुरुष्व मदुर्पण्यम् ॥ २७॥ शुभाशुभक्लैरेवं मोच्यसे कर्मबन्धनैः। संन्यासयोगयुक्तात्मा विग्रक्तो माग्रपेष्यसि ॥ २८॥ समोर्डहं सर्वभृतेषु न मे द्वेष्योडस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भवत्या मायि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २६ ॥ . श्रिप चेत्सुद्दराचारो भजते मायनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३०॥ चिमं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छेति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रण्रयति ॥ ३१ ॥ मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य ये अपि स्युः पाषयोनयः । क्षियो वैश्यास्तथा शुद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥ किं पुनर्वाह्मणाः पुरुषा भक्ता राजर्षयस्तथा । श्रानित्यमसुर्वं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥ मन्मना भव मञ्जनतो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायगाः ॥ ३४ ॥

्रष्ट्रति श्रीसद्भगवद्गीता॰ राजविद्याराजगुद्धये।गो नाम मवमीऽध्यायः

## दशमो ऽध्याय ।

### श्रीभगवानुवाच |

भूय एव महावाही शृखु मे परमं वचः। यत्तेऽहं मीयमाखाय वत्त्र्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥ न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिहि देवानां महपींखां च सर्वशः ॥ २॥ यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् । श्रसम्मुदः स मर्त्येषु सर्वपापः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥ बुद्धिर्ज्ञानपसम्मोहः चमा सत्यं दमः शमः । सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥ ब्यहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः । भवान्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथान्विधाः ॥ ५ ॥ महर्पयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मद्भवा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥ एतां विभृतिं योगं च मम यो वेत्ति तस्त्रतः । सोऽविकम्येन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥ अर्ह सर्वस्य प्रभवो मुत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा आवसमन्विताः ॥ 🖘॥ मच्चिता महतपाणा वोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्रमां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ६॥ तेषां सततयुकानां भजतां शीतिपूर्वकम् । ददासि बुद्धियोगं तं येन माभुपपान्ति ते ॥ १०॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयास्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भारवता ॥ ११ ॥

### श्रर्जुन उवाच*।*

परं ब्रह्म परं धाम पिनत्रं परमं भनान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिन्यमादिदेनमजं निश्चम् ॥ १२ ॥
श्वाहुस्त्वामृषयः सर्वे देविपिनीरदस्तथा ।
श्वाहिस्तामृषयः सर्वे देविपिनीरदस्तथा ।
श्वाहिस्तामृषयः सर्वे देविपिनीरदस्तथा ।
सर्वमेतदतं मन्ये चन्मां बद्धि केशव ।
न हि ते भगवन्न्यिक्तं निदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं नेत्यं त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमहस्यशेषेणं दिन्या द्वात्मिविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिन्तोक्तानिमांस्त्रं न्याप्य तिष्ठिसि ॥ १६ ॥
कथं विद्यामृष्टं योगिस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्द्न ।
भूयः कथय द्वितिर्हं शृग्यवता नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥
श्री भगवानुवाच ।

इन्त ते कथायिष्यामि दिव्या ह्यात्मिविश्रुतयः ।
माधान्यतः हुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १६ ॥
श्रहमात्मा गुडाकेश सर्वभूतीश्यंस्थितः ।
श्रहमादिश्र मध्यं च भृतानामन्त एव च ॥ २० ॥
श्रादित्यानामहं विष्णुज्योतियां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामास्म नच्नत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देनानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्रास्मि भृतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥
रद्राणां शक्तश्रास्मि वित्तेशो थच्रस्त्रसाम् ।
वस्नां पावकश्रास्मि मेरुः शिखरिणामहस् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् । सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४॥ महर्पीखां भृगुरहं गिरामस्म्येकमच्रम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥. श्रश्वत्थः सर्ववृत्ताणां देवर्पाणां च नारदः। गन्धर्वाणां चित्रस्थः सिद्धानां किपनो मुनिः॥ २६ ॥ .उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् । पेरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिवम् ॥ २७ ॥ त्रायुधानामहं वज्ं धेनूनामस्मि कामधुक्। प्रजनश्रारिम कन्दर्पः सर्पागामस्मि वासुकिः ॥ २**⊏**॥ श्रनन्तश्रास्मि नागानां वरुखो यादसामहम्। पितृगामयमा चास्मि यम संयमतामृहम् ॥ २६ ॥ महादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामयम्। मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पित्तणाम् ॥ २०॥ पवनः पवतामस्य रामः शस्त्रभृतामह्य्। भाषां मकरश्रास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१॥ सर्गीगामादिरन्तश्र मध्यं चैवाहमर्जुन । श्रध्यात्मावैद्या विद्यानां वादेः प्रवद्तामहम् ॥ ३२ ॥ अचराणामकारोऽस्मि इन्द्रः सामासिकस्य च । अहमेवाच्चयः कालो धाताऽहं विश्वतोग्रुखः॥ ३३ ॥ मृत्युः सर्वहरश्राहमुद्भवश्र भविष्यताम्। कीर्तिः श्रीवीक्च नारीयां स्मृतिर्मेधा पृतिः चमा।। ३४॥ वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्। मासानां मार्गशिर्वोऽहंमृत्नां कुसुमाकरः ॥ ॥ ३५ ॥ युतं छल्यतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्। जयो अस्म व्यवसायो अस्म सन्त्रं सन्त्रवतामहम् ॥ ३६॥ हण्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाग्रहवानां घनझयः ।
स्नीनामप्यं च्यासः कवीनाम्रश्ना कविः ॥ ३७ ॥
द्यडो दमयतामास्मि नीतिरस्मि जिगीपनाम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामह्म् ॥ ३८ ॥
यच्चापि सर्वभूतानां वीजं तदहम्ज्जन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३६ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिच्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तृहेशतः भोक्नो विभूतेविंस्तरो मया ॥ ४० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सन्तं श्रीमद्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजाँ अशसम्भवम् ॥ ४१ ॥
श्रथवां यहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्सनमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥



हाने भीमनगद्रहीता । विभूनियोगी नाम दुगमोऽध्यामः ।

## एकादशोऽध्यायः।

### श्रजुंन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसां झितम् । यक्त्वयोकं वचस्तेन मोहो अयं विगतो मम ॥ १ ॥ भवाष्ययो हि भूतानां अता विस्तरशो मया । त्वत्तः कमलपत्राच्च माहात्म्यमिष चान्ययम् ॥ २ ॥ एवमेतद्यथा ५ ५०० व्वमात्मानं परमेश्वर । द्रष्डामिच्छामि ते रूपमेश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥ मन्यसे यदि तच्छवयं मया द्रष्डिमिति प्रभो । योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमञ्ययम् ॥ ४ ॥

श्री भगवानुवाच |

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽय सहस्रशः।
नानाविधानि दिन्यानि नानावर्णाकृतीनि च !। ५ "
परयादित्यान्यसुत्रुद्रानिश्वनौ मरुतस्तथा।
बहुन्यदृष्ट्रपूर्वाणि पश्याश्र्याणि भारतः॥ ६ ।।
इहैकस्यं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यदृष्टुमिच्छासि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचच्चुपा।
दिन्यं ददामि ते चच्चः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ = ॥

सक्षय उवाच।

एवम्रुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हेरिः । दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ६ ॥ श्रनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भ्रतदर्शनम् । श्रनेकदिन्याभरगं दिन्यानेकोद्यतायुधम् ॥ ४० ॥ दिन्यमान्याम्बरघरं दिन्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमननतं विश्वतोग्जसम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्तर्य मवेद्यगपदुत्थिता ।
यदि भाः सहशो सा स्याद्धासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्क्रस्नं मविभक्तमनेकथा ।
अपस्यहेवदेवस्य शरीरे पागडवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनद्धायः ।
मण्यस्य शिरसा देवं कृताङ्कालिरभाषत ॥ १४ ॥

परयामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्त्रथा भृतविशेषसंघान्। ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्र सर्वानुरगांश्र दिन्यान् ॥ १५ ॥ श्रनेकवाहृदरवक्त्रनेत्रम् परयामि त्वां सर्वतो अनन्तरूपम् । नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम् पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥ किरीटिनं गदिनं चिक्रेखं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्। पश्यामि त्वां दुर्निरीच्यं समन्ताद् दीप्तानलार्क्षयातिमयमेयम् ॥ १७ ॥ त्वमन्तरं परमं वेदितव्यम् त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । ं स्वमव्ययः शास्वतधर्मगोप्तां सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥ श्रनादिमध्यान्तमनन्तवीर्थमनन्तवाहुं शशिसूर्यनेत्रम् । पश्यामि त्वां दीप्तहृताश्ववक्त्रम् स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् . ॥१६॥ चावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः। दृष्ट्वाऽद्धतं रूपमुत्रं तवेदम् लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥ श्रमीं हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्रीताः माञ्जलयो गृणन्ति । स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिर्द्धेसंघाःस्तुवन्तिं त्वां स्तुतिभिःपुष्कलाभिः२१। रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याः विश्वे अश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च । गन्धर्वयचार्सुरीसद्धसंघाः वीचन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रूपं पहल बहुवक्त्रनेत्रष् महावाही बहुवाहूरुपाद्म्। बहुदरं बहुदं ब्ह्राकरालम् दृष्टा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥ नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम् च्यात्ताननं दीक्षविशालनेत्रम्। दृष्टा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा शृति न विन्दामि शर्म च विष्णो ॥२४॥ दंप्याकरालानि च ते मुखानि दृष्टेव कालानलसन्निभानि। दिशो न जाने न लभे च शर्म मसीद देवेश जगिनवास ॥ २५ ॥ श्रमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे संहवावनिपालसंघैः । भीष्मो द्रोषाः सृतपुत्रस्तथाऽसी सहास्मदीयैरवि योधग्रुख्यैः ॥ २६ ॥ वक्त्राणि ते त्वरपाणा विशान्ति दंब्हाकरालानि भयानकानि । केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदरयन्ते चृथितैरुत्तर्मागः॥ २७॥ यथा नदीनां वहवोऽन्खुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति । तथा तवामी नरलोकवीराः विशान्ति वक्त्रारयभिविज्वलन्ति ॥ २८॥ यथा मदीप्तं ज्वलनं पतंगाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः । तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राखि समृद्धवेगाः ॥ २६ ॥ लेलिह्यसे व्रसमानः समन्ता ज्लोकान्समग्रान्दद्नेज्वेलाद्भिः । तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः शतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥ द्राख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद । विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम् न हि पजानामि तव पर्रात्तम् ॥ ३१ ॥ श्री भगवानुवाच ।

कालो अस्म लाकचयक सहद्धो लोकान्समाहर्तुमिह महत्तः । भरतेअपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येअवस्थिताः मत्यनीकेषु योधाः॥३२॥ तस्मान्त्रमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्र्-मुङ्क्त राज्यं समृद्धम् । मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्वं भव सन्यसाचिन् ॥ ३३ ॥ द्रोगां च भीष्मं च जयद्रयं च कर्णं तथाअन्यानिष योधवीरान् । मया हतांस्त्वं जिह मा न्याथिष्याः युद्धचस्त्र जेतासि रणे सपत्रान् ॥३४

### प्रजय खवाचा

एतच्छुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेषमानः किरीटी। नमस्कृत्वा भ्य एवाइ कृष्ण्य सगद्रदं भीतभीतः प्रण्यस्य ॥ ३५ ॥ श्रर्जुन उवाच ।

स्थाने हुपीकेश तव प्रकीटर्धा जगत्महुष्यत्यतुरुयते च। रचांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नयस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥ कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे । श्चनन्त देवेश जगनिवास त्वमद्यरं सदसत्तत्वरं यत् ॥ ३७॥ त्वमादिदेवः पुरुपः पुराण स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया तर्त विश्वमनन्तरूव ॥ ३८ ॥ वायुर्वमोडिमिर्वरुषः शशांकः मजापतिस्त्वं मितामहश्च। नमो नमस्तेऽस्तु सहस्नकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३६॥ नमः पुरस्तादथ पृष्डतस्ते नमोडस्तु ते संवेत एव सर्व। श्चनन्तवीर्याभितविक्रयस्त्वम् सर्वं समाप्नोपि ततो≤सि सर्वः ॥ ४० ॥ सखेति मत्त्रा मसभं यदुकम् हे कृष्ण हे यादव हे सखेति । श्रजानता महिमानं तवेदम् मया प्रमादात्त्रग्रयेन वापि ॥ ४१ ॥ यच्चाऽत्रहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभाजनेषु । एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समस्रम् तत्सामये त्वामहमममेयम् ॥ ४२ ॥ पिता असि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्। न त्वरसमोऽस्त्यभ्यधिकः क्रतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यमतिमप्रभावः॥४३॥ तस्मात्त्रणम्य प्राणिधाय कायम् प्रसादये त्वागहंमीश्रमीडचम्। पितेव पुत्रस्य सखेव संख्युःभियः भियायाहीसे देव सोहुम् ॥४४॥ अदृष्टपूर्व दृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रन्यथितं मनो मे। तदेव में दुर्शय देव रूपम् पसीद देवेश जगनिवास ॥ ४५ ॥ किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त मिच्छामि त्वां द्रप्टुमइं तथैन। तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रवाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्री भगवानुबाच ।

00000000000000000

मया प्रसन्नेन तवार्जीनेदम् रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यम् यन्मे त्वद्नयेन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रेः ।
एवंरूपः शक्य श्रहं हलोके द्रप्हं त्वदन्येन कुरुपवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूहभावो दृष्ट्वा र्रूपं घोरमीदृद्धममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम् तदेव मे रूपिम्हं प्रपश्य ॥ ४८ ॥

सञ्जय खवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथाक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः । श्रान्वासयामास च भीतमेनम् भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५०॥

श्रर्जुन उवाच ।

दृष्टेदं मानुपं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संष्टत्तः सचेताः प्रकृति गतः ॥ ५१॥

श्री भगवानुवाच ।
सुदुंदेशीिमदं रूपं दृष्टवानिस यन्मम ।
देवा श्रप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्चिसः ॥ ५२॥
नाहं वेदैनं तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानिस मां यथा ॥ ५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य श्रहमेवंविधो ॐन ।
श्रातुं द्रष्टुं च तन्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४॥
मत्कंमकुन्मत्परमो मद्भक्षः संगविजतः ।
निवैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पारहव ॥ ५५॥

इति श्रीमन्त्रगवद्गीताः विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः।



## द्वादशोऽध्यायः।

. श्रर्जुन उवाच /

एवं सततयुक्ता ये भकास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यचरमञ्यकं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्युका उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥ ये त्वच्चरमनिर्देश्यमन्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥ संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्तुवन्ति मामेव सर्वभूतीहते रताः ॥ ४ ॥ क्लेशो अधिकतरस्तेषामव्यक्रासक्तचेतसाम् । श्रव्यका हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ४ ॥ ये तु सर्वाणि कर्माणि माये संन्यस्य मत्पराः। श्चनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥ तेषामहं सम्रद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥ मध्येव मन श्राधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यासि मय्येव अत ऊर्ध्व न संशयः ॥ = ॥ श्रथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि माये स्थिरम् । अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तं धनञ्जय ॥ ६॥ अभ्यासे अप्यसमर्थो असि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्भाणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यास ॥ १०॥ श्रथैतद्प्यशक्तो असि कर्तुं मद्योगमाश्रितः। सर्वकर्मकलत्यागं वतः क्रह यवात्मवान् ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासान्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्क्रमफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥ अद्वेष्टा सर्वभृतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः चमी ॥ १३ ॥ सन्तृष्टः सततं योगी यतात्मा दढनिश्रयः । मय्यापितमनोबुद्धियों मे भक्तः स मे शियः ॥ १४ ॥ यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्पामपेभयोद्वेगेर्भुको यः स च मे वियः ॥ १५ ॥ ॥ अनेपेचः शुचिर्दच उदासीनो गतन्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मञ्जूकः स मे प्रियः ॥ १६ ॥ यो न हुप्यति न द्वेष्टि न शोचित न काड्इति । श्रमाश्रमपरित्यागी भक्तिमान्यः स म प्रियः ॥ १७॥ समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवार्जितः ॥ १८॥ तुल्यनिन्दास्तुतिमानी सन्तुष्टो येनकेनचित्। ञ्चानिकेतः स्थिरमितभिक्तिमान्मे भियो नरः ॥ १६ ॥ ये त धम्यीमृतिपदं यथोक्तं पर्युपासते । श्रद्धधाना मत्परमा अक्रास्ते अतीव मे प्रियाः ॥ २०॥

इति श्रीमजगवद्गीता० भक्तियोगी नाम द्वादशोऽध्यायः।



## त्रयोदशोऽध्यायः

श्रज़ेन उवाच !

मक्कति पुरुषं चैव चैत्र चैत्रज्ञमेव च । ऐतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय चेतृमित्याभिधीयते। एतचो वेत्ति तं प्राहुः चेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ २ ॥ चत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वचेत्रेषु भारत । चेत्रचेतृज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ३॥ तत्त्रेत्र यच्च यादक् च यदिकारि यतश्र यत् । स च यो यत्मभावश्च तत्समासेन मे शुख्य ॥ ४ ॥ ऋषिभिवेहुधा गीतं , छन्दोभिविविधः पृथक् । त्रह्मसूत्रपर्देश्वेव हेतुंगद्भिर्विनिश्चितः ॥ ४ ॥ महाभूतान्यद्देकारी बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पश्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ६ ॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्रेतना धृतिः। एतत्चेत्रं समासेन सविकारगुढाइतम् ॥ ७॥ अमानित्वमद्भित्वमहिंसा चान्तिराजवम्। श्राचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ = ॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च्। जन्ममृत्युजराच्यात्रिदुःखदोपानुदर्शनम् ॥ ६ ॥ 🕟 असिकरनभिष्यंगः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समिचत्तत्वामिष्टाानिष्टोयपत्तिषु ॥ १० ॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिखी । विविक्वदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११ ॥

छा व्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थद्शीनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ १२॥ न्नेयं यत्तत्पत्रवच्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्जुते *।* यनादिमत्परं ब्रह्म न सत्त्रनासदुच्यते ॥ १३ ॥ सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽचिाशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमाद्यत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥ मर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवार्जितम् । असकं सर्वभृत्येव निर्भुगं गुणभोक्त च ॥ १५ ॥ वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सृद्यस्वात्तद्विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १६ ॥ श्राविभक्तं च भूतेषु विभक्तमित्र च स्थितम्। भृतभर्तः च तज्ज्ञेयं ग्रसिप्णु प्रभविष्णु च ॥ १७॥ ज्योतिपामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं दृदि सर्वस्य धिष्टितम् ॥ १८ ॥ इति चेत्ं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्नं समासतः। मद्रक्त एतद्रिज्ञाय मद्रावायोपपद्यते ॥ १६ ॥ मर्ऋतं पुरुपं चैत्र विद्धचनादी उभावपि। विकारांश्र गुणांश्रेव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ २० ॥ कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः मकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २१ ॥ पुरुपः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २२ ॥ उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोका महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २३ ॥ य एवं वेत्ति पुरुपं प्रकृति च गुर्गैः सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भुयोऽभिजायते ॥ २४ ॥

ध्यानेनात्मिन पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥ चान्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वार्डन्येभ्यं उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायखाः ॥ २६ ॥ यावत्सञ्जायते किञ्चित्सच्वं स्थावरजंगमम् । चेत्रचेतुइसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २७ ॥ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्टनंतं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्त्रविनश्यन्तं यः पर्याति स पर्याते ॥ २ ॥ समं परयन्हिं सर्वत् समवस्थितमाश्वरम्। न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गातिम् ॥२३॥ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ३०॥ यदा भूतपृथग्भावमकस्थमञ्जपश्यति । त्तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३१ ॥ श्रनादित्वाश्विर्गुग्तत्वात्परमात्मा अयमन्ययः । शारीरस्थोऽपि कीन्तेय न करोति नं लिप्यते ॥ ३२ ॥ यथा सर्वगतं सीच्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावंस्थितो देहे तथा अञ्चा नोपलिप्यते ॥ ३३ ॥ यथा प्रकाश्यत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रेविः। चेत्रं चेत्री तथः कुत्स्वं प्रकाशयवि भारत ॥ ३४ ॥ चेत्रचेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचन्नुषा। भूतमकृतिमोन्तं च ये विदुर्चान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमैद्भगवद्गीता० चेत्रचेत्रज्ञाविभागयोगी नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।



## चतुर्दशोऽध्यायः।

श्री भगवानुवाच ।

परं भृयः प्रवच्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्। यडहात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमिता गताः ॥ १ ॥ इदं ज्ञानभ्रपाश्रित्य मम साधम्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥ मम योनिमहद्ब्ह्म तस्मिन् गर्भ द्धाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥ सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां बच्च महयोनिरहं वीजमदः पिता ॥ ४ ॥ सन्त्रं रजस्तम इति गुर्गाः प्रकृतिसम्भवाः । निवध्नन्तिं महावाहो देहे देहिनमञ्ययम् ॥ ५ ॥ तत्र सन्वं निर्मेलत्वात्मकाशकमनामयम्। सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥ रजो रागात्मकं विद्धि तृप्णासंगसमुद्धवम् । तित्रवध्नाति कौन्तेय कर्मसंगन देहिनम् ॥ ७॥. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। ममादालस्यनिद्राभिस्ताचेवध्नाति भारत ॥ = ॥ सन्वं सुखं सञ्जयति रजः कर्मशि भारत । ज्ञानमादृत्य तु तमः ममोदे सञ्जयत्युत ॥ ६॥ रजस्तमश्राभिभूय सत्त्वं भवति भारत । रजः सत्त्वं तमश्चेव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥ सर्वद्वारेषु टेहेऽस्मिन्यकाश उपजायते। **ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विष्टदं सन्त्वामित्युत ॥ ११ ॥** लोभः प्रष्टतिरारम्भः कर्मगामशमः स्पृहा । . रजस्येतानि जायन्ते विद्वद्धे भरतर्पम् ॥ १२॥ ।

श्रमकाशोऽपवृत्तिश्र ममादो मोह एव च । तमस्येतानि जायन्ते विद्वद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥ यदा सत्त्वे मद्ददे तु मल्यं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्यतिपद्यते ॥ १४ ॥ रजिस प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते । तथा प्रलानस्तमसि मूहयोनिषु जायते ॥ १५॥ कर्मणः सुकृतस्याहुः साचिकं निर्मलं फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६॥ सस्वात्सञ्चायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमीहो तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७॥ ऊर्ध्व गच्छन्ति सन्बस्था मध्ये तिष्ठान्ति राजसाः। जर्धन्यगुराहत्तिस्था अधो गच्छान्ति तामसः॥ १८॥ नान्यं गुर्णेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपरयति । गुरोभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १६ ॥ ग्रणानेतानतीत्य त्रीन्देही देइसमुद्भवान् । जन्ममृत्युजरादुःखैर्विभ्रुकोऽमृतमृश्नुते ॥ २० ॥

श्रर्जुन खवाच ।

कौर्लिंगैकीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो । किमाचारः कथं चैतांस्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाएडव । न हेिष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्चति॥२२॥ उदासीनवदासीनो गुर्णेयों न विचाल्यते । गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३॥ समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टारमकाश्चनः । तुल्यिमयाभियो धीरस्तुल्यिनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपच्चयोः । सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २४ ॥ मां च योऽव्यभिचारेण भिक्तयोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥ २६ ॥ , ब्रह्मणो हि मतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ॥ २७ ॥ शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥ इति शीमक्रगवक्रीताः गुणात्यविभागयोगो नाम चतुर्वशोऽध्यायः।



## पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

उद्ध्वम्लमधःशाखमश्वत्यं प्राहुर्ग्ययम् ।
क्रुन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेद्वित् ॥ १ ॥
अध्येध्वं प्रस्तास्तस्य शाखाः गुण्पवृद्धा विषयपवालाः ।
अध्य मृलान्यनुसन्ततानि कर्मानुवन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिने च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थेमनं सुविरूद्धमृलमसंगशस्त्रेण दृदेन क्रित्ता ॥ ३ ॥
ततःपदं तत्परिमागितन्यम् यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपत्ते यतः प्रवृत्तिः प्रमृता पुराणी ॥ ४ ॥
निमानमोहा जितसगदोषाः अध्यात्मनित्या विनिष्टत्तकामाः ।
दृन्द्विष्ठकाः सुखदुःवसंत्रीर्गच्छन्त्यमृद्धाः पदमन्ययं तत् ॥ ४ ॥

न तज्ञासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
ममेवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःपष्टानीान्द्रियाणि मक्ततिस्थानि कर्षाते ॥ ७ ॥
श्रीतं यदवाष्नोति यच्चाप्युत्कामतीश्वरः ।
गृहीत्वेतानि संयाति वायुर्गन्वानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रीत्रं चत्तुः स्पर्शनं च रसनं घाणमेव च ।
व्यविष्टाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ६ ॥
उत्क्रमन्तं स्थितं वापि भुज्ञानं वा गुणान्वितम् ।
विमूहा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचन्नुपः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवास्थितम् ।
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवास्थितम् ।

यदादित्यगंतं तेजो जगद्भासयते अखिलम् । यच्चन्द्रमासि यच्चायौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥ गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा । पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भृत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥ श्रहं वैश्वानरो भृत्वा पाणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥ सर्वस्य चाहं दृदि सन्निविद्यो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । वेदैश्र सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १४ ॥ द्वाविमौ पुरुषौ लोके चरश्राचर एव च। चरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो उत्तर उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकतुयमाविश्य विभत्येव्यय ईश्वरः ॥ १७॥ यस्मात्वरमतीवो अहमचरादिप चोत्तमः। अतो अस्म लोके वेदे च मथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥ यो मामेवमसम्मुढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्धजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १६॥ इति गुह्यतमे शास्त्रमिद्युक्तं मयाऽनघ । एतद्बुध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्र भारत ॥ २० ॥ इति श्रीमद्भगवद्गीताः पुरुषोत्तमयोगी नाम पञ्चदशोऽध्यायः।



## षोडशो ५ध्यायः।

श्री भगवानुबाच ।

श्रभव सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयागव्यवस्थितिः । दानं दमर्च यज्ञरच स्वाध्यायस्तप त्राज्यम् ॥ १ ॥ ब्राहिंसा सत्यमकोधस्त्यागः शान्तिरपेशुनम् । दया भृतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं द्वीरचापलम् ॥ २ ॥ तेजः चमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता । भवन्ति सम्पदं देवीपिभजातस्य भारत ॥ ३ ॥ दम्भो दर्पी अभिमानश्च कोघः पारुष्यमेव च । अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥ देवी सन्पद्धिमेःज्ञाय निवन्धायासुरी मता । मा शुनः सम्पदं देवीमभिजातोऽसि पाएडव ॥ ४ ॥ द्वी भूतसर्गी लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च। दैवो विस्तरशः प्रोक्त असुरं पार्थ मे शृखु ॥ ६ ॥ प्रवृत्ति च निवृत्तिं च जनानविदुरासुराः । न शौंचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥ असत्यममतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् । श्र्**परस्परसम्भृतं किमन्यत्काम**हेतुकम् ॥ ८ ॥ एतां दृष्टिमत्रष्ट्रभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः । प्रभवन्त्युग्रकर्मागः चयाय जगतोऽहिताः ॥ ६ ॥ काममाश्रित्य दुष्पूरं टम्भमानमदान्विताः मोहाद्रुहीत्वाऽसद्ग्राहान्यवर्तन्ते उद्युचित्रताः ॥ १० ॥ चिन्तामपरिमेयां च प्रनयान्तासुपाश्रिताः । कामोपभागपरमा एताबदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥ **त्र्याशायाश्चरतेर्वेद्धाः कामकोधपरायणाः** । ईहुन्ने कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्त्ये मनोरथम् । इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥ असौ मया इतः श्रानुईनिष्ये चापरानिष । ईरवरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं वलवान्सुखी ॥ ४४ ॥ श्राड्योऽभिजनवानिस्म कोऽन्योऽस्ति सदशो मया। यच्ये दास्यामि मोदिप्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १४ ॥ श्रनेकचित्तविश्रान्ता मोहजालसमावृताः । पसकाः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥ श्रात्यसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥ अहंकार वर्ल दर्प काम कोधं च संश्रिताः। मामात्मपरदेहेपु प्रद्विपन्तोऽभ्यमुयकाः ॥ १८ ॥ तानहं द्विपतः शूरात्संसारेषु नराधमान् । चिपाम्यजसम्युभानासुराष्ट्रेय योनिषु ॥ १६ ॥ श्रासुरीं योनिभापन्ना मृहा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्येव कौन्तेय ततो यान्त्यथमां गतिम् ॥ २० ॥; त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोवस्तथा लोभस्तस्माद्तेत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥ 'एतैर्विग्रुक्षः कौन्तेय तमोद्वारेस्त्रिभिर्नरः । आजरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गांतिम् ॥ २२ ॥ यः शास्त्रविधिग्रुत्यृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्षं कर्म कर्तुमिहाहीस ॥ २४ ॥ इति श्रीमद्भगवद्गीता • दैवासुरसम्पद्धिभागयोगो नाम पोडशोऽध्यायः ।'

ميكيك فأو ووالمودود

## सप्तदशो ऽध्यायः

चार्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिग्रुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः । नेपां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा । साचिकी राजसी चैव तामसी चैति तां शृखु ॥ २ ॥ सन्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयो अयं पुरुषो यो यच्क्रद्धः स एव सः ॥ ३ --यजन्ते सास्विका देवान्यचरचांसि राजसाः। मेतान्भूतगर्णांथान्यं यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥ श्रशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः। दम्भाइंकारसंयुक्ताः कामरागवलाान्विताः ॥ ५ ॥ कशयन्तः शरीर्रेहेंथं भूतग्राममचेतसः । मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्धचासुरनिश्रयान् ॥ ६ ॥ श्राहारस्त्विप सर्वस्य तिविधी भवति प्रियः। यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृखा। ७॥ श्रायुःसत्त्ववलारोग्यप्रुखपीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या श्राहाराः सान्त्रिकप्रियाः ॥वा। कटुम्ललवणात्युष्णतीच्याक्त्रविदाहिनः। श्राहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयपदाः ॥ ६॥ यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टभिष चामेर्ध्यं भोजनं तामसाप्रियम् ॥ १०॥ श्रफलाकाङ्चिभिर्यक्षो विधिदृष्टो द्वैय इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सान्विकः ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत । इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥ विधिहीनमसृष्टाचं मन्त्रहीनमंदिच्याम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचच्चते ॥ १३ ॥ देवद्विज्गुरुभाइपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥ श्चनुद्देगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्गयं तप उच्यते ॥ १४ ॥ मनःप्रसादः सौम्यत्वं यौनपारंपविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्यतत्त्रपो मानसभुच्यते ॥ १६ ॥ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तित्तिविध नरैः । श्रफलांकाङ्क्षिभिर्युकैः सान्त्रिकं परिचत्तते ॥ १७ ॥ सत्कारमानपूजार्थं तपा दस्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमधुवम् ॥ १८ ॥ मृदग्राहेगात्मनो यत्पादया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदादृतम् ॥ १६ ॥ दातन्यमिति यहानं दीयते उनुपकारियो । देशे काले च पात्रे च तद्दानं साचिकं स्पृतम् ॥ २० ॥ यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्षिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमन्द्रातं तत्तामसमुदादृतम् ॥ २२ ॥ श्रों तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणाञ्जिविधः स्मृतः । ब्राह्मणास्तेन वेदाश्र यज्ञाश्र विहिताः पुरा ॥ २३ ॥ तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः । प्रवर्तन्ते विधानोक्षाः सत्ततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

मन्नद्रशीदस्यायः ।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः। दानक्रियाश्र विविधाः क्रियन्ते मोचकाङ्चिभिः ॥ २५॥ सद्भावे साभाधुवे च सहित्येतत्वयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छन्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥ यज्ञे तपसि टाने च स्थितिः सदिति चोच्यते । कर्म चैव तदर्थीयं सदिखेवाभिधीयते ॥ २७॥ अअद्ध्या हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत । श्रसदित्यच्यते पार्थ न च तत्येत्य नो इह ॥ २८॥

इति श्रीमञ्जगवद्गीता० श्रद्धात्रयधिमागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।



## च्यष्टादशो ऽध्यायः

श्रर्जुन उवाच ।

संन्यासस्थ महावाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुंम् । त्यागस्य च हृपीकेश पृथक्केशिनिपृदन ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। सर्वेकर्मेफलत्यागं पाहुस्त्यागं विचच्चणाः ॥ २ ॥ त्याज्यं दोपवदित्येके कर्म प्राह्ममनीपिणः। यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥ निश्चयं शृखु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम । त्यागो हि पुरुपन्याघू त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥ यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपरचैव पावनानि मनीपिणाम् ॥ ५ ॥ एतान्यि तु कर्माणि संग त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहत्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७॥ दुःखमित्येव यत्कर्म कायकेशभयात्त्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ = ॥ कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन । संग त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मृतः ॥ ६ ॥ न द्रेष्ट्यकुशलं कर्म कुशलं नानुपज्जते । त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेघावी छिन्नसंशयः 🍴 १० 👭 न हि देहमृता शुक्यं त्यक्तुं कर्माएयशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां पेत्य न तु संन्यासिनां ऋचित् ॥ १२ ॥ यञ्जैतानि महाबाहो कारणानि निवोध मे। साङ्ख्ये कृतान्ते शोकानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥ अधिप्टानं तथा कर्ता कर्र्णं च पृथग्विधम् । विविधाश्र पृथक्चेप्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥ शारीरबाङ्मनोभिर्वत्कर्यं मारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पश्चेते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥ तत्रैवं सति कर्तीरमात्मानं केवलं तु यः । परयत्यकृतबुद्धित्वाच स परयति दुर्मतिः ॥ १६ ॥ यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धियस्य न लिप्यते। इत्वाञ्पि स इमाँल्लोकान्न हान्ति न निवध्यते ॥ ॥ १७ ॥ ज्ञानं ज्ञेयं पंरिज्ञाता त्रित्रिया कर्मचोदना । करणं कर्म कर्तेति त्रिविधंः कर्मसङ्ग्रहः ॥ १८॥ ज्ञानं कर्म च कर्ता च विधव गुणभेदतः। प्रोच्यन्ते गुणसङ्ख्याने यथावृच्छुणु तान्यपि ॥ १६ ॥ सर्वभूतेषु येनैकं भावमन्ययमीक्ते । श्राविभक्तं विभक्तेषु तब्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥ २० ॥ पृथक्तेन तु यञ्ज्ञानं नानाभावान्पृथान्विधान्। वेचि सर्वेषु भृतेषु तन्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१ ॥ यनु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्षमहेतुकम् । त्रांतस्वार्थवद्रुपं च तत्तायसमुदादृतम् ॥ २२ ॥ नियंत संगरहितमरागद्वेपतः ऋतम् । श्रफलप्रेप्सना कर्म यत्तत्सात्त्रिकग्रुच्यते ॥ २३ ॥ यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः

क्रियते बहुलायासं तहाजसमुदाइतम् ॥ २४ ॥

अनुवन्धं च्यं हिंसामनपेच्य च पौरुपम् । मोहादरभ्यते कर्ष यत्ततामसमुच्यते ॥ २५ ॥ म्रकसंगोऽनंहवादी धृत्युत्साहसमन्वितः । सिद्धचसिद्धचोनिर्विकारः कत्ती सात्विक उच्यते ॥ २६ ॥ रागी कर्मफलमेप्सुर्जुन्यो हिंसात्मकोऽश्राचिः। हर्पशोकान्वितः कंती राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥ अयुक्तः पाकृतः स्तव्यः शहो नैष्कृतिकोठलसः । विषादी दीर्घमृती च कर्ता तामस उच्यते ॥ २ = ॥ बुद्धेर्भेदं धतेश्वेव गुणतस्त्रिविधं घृणु । प्रोच्यमानमशेषेण पृथ<del>व</del>त्वेन धनज्जय ॥ २**६** ॥ मद्दत्ति च निद्दति च कार्यकार्ये भवासये। वन्धं मोक्तं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सान्विकी ॥ ३०॥ यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। श्रयथावत्यजानति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥ अधर्म धर्ममिति या मन्यते तमसा द्वता । सर्वार्थान् विपरीतांश्र बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥ भृत्या यया धारयते मनःत्राखेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिएया धृतिः सा पार्च सास्विकी ॥ ३३ ॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन । मसंगेन फ़लाकाङ्ची धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥ यया स्वप्नं भयं शोकं विपादं मदमेव च। न विम्रुंचित दुर्मेघा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥ सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृखु मे भरतर्षम । ् अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥ यत्तद्ये विषमिव परिगामेऽमृतोपमम्। नत्सुखं सात्त्वकं मोक्तमात्मबुद्धिमसादजम् ॥ ३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रे अमृतोपमम् । परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसे स्मृतम् ॥ ३८ ॥ यद्ये चानुवन्धे च सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसम्बद्धाद्वतम् ॥ ३६ ॥ न तदस्ति पृथिच्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः । सन्तं प्रकृतिजैर्धुकं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुगैः ॥ ४० ॥ ब्राह्म याचात्रियविशां शुद्राणां च परन्तप । कर्याणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुगैः ॥ ४१ ॥ शमो दमस्तपः शौचं चान्तिराजेवमेव च । ज्ञानं विज्ञानमास्तिचयं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥ शौर्य तेजो धृतिर्दाच्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीरवरभावश्र चात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥ कृषिगोरच्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । परिचर्यात्मकं कर्म शृद्धस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥ स्त्रे स्त्रे कर्मरायभिरतः संसिद्धिं स्थते नरः। स्वकर्मानिरतः सिाद्धं यथा विन्दति तच्छुणु ॥ ४५ ॥ यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्विमिदं ततम् स्वकर्मणा तमभ्यच्ये सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥ श्रेयान् स्वधर्मी विगुगाः परधर्मात्स्वनुष्टितात् । स्वभावनियतं कर्म कुर्वत्राप्नोति किल्विषम् ॥ ४७ ॥ सहजं कर्म कौन्तेय सदोषयपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाहताः ॥ ४८ ॥ श्रसकबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धं परमा संन्यांसेनाधिगच्छति ॥ ४६ ॥ सिद्धिं पाप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे । समासेनेव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽस्मानं नियम्य च । शब्दादीन्विषयांस्त्यवन्वा रागद्वेषा ब्युट्स्येन्च ॥ ५१ ॥ विविक्रसेवी लघ्वाशी यनवाक्कायमानसः ध्यानयोगपरो नित्वं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥ अहंकारं वर्ल दर्प कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तां ब्रह्मभ्याय कल्पन ॥ ५३ ॥ ब्रह्मभूतः मसचात्मा न शोचित न काङ्कृति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्षिं लभते पराम् ॥ ५८ ॥ भवत्या मामभिजानाति यावान्यश्वास्मि तत्त्वतः । नतो मां नस्त्रनो ज्ञास्त्रा विश्वते तद्दनन्तरम् ॥ ५५॥ सर्वकर्मारयपि सदा कुर्वाणो मद्वयपाश्रयः। मत्त्रसादादचाप्नोति शास्वतं पद्मव्ययम् ॥ ५६ ॥ चेतसा सर्वेकर्माणि मिय सन्यस्य मत्परः। द्युद्धियोगमुपाश्रित्व माञ्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥ माच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्त्रसादात्तरिष्यासि । अथ चेत्त्वमधंकाराच श्रोष्यासि विनङ्च्यासि ॥ ५८ ॥ यद्दंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे । भिथ्यैप व्यवसायत्ते मक्रतिस्त्वां नियोच्यति ॥ ५६ ॥ स्वभावजन कान्तेय निवद्धः स्वेन कर्मणा । कर्तुं नेच्छासि यन्मोहात्कारिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६०॥ ईरवरः सर्वभूतानां हुदेशे ॐुन तिष्ठति । भामयन्सर्वभ्तानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्त्रसादात्परां शान्ति स्थानं पाप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥ इति ते ज्ञानमाख्यातं गुवाद्रद्यत्रं मया। विमुष्ट्यैतदशंपेण यथेच्छासे तथा कुरु ।। ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृखु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मं दढमिति ततो वच्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नयस्करः। मामेबैप्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शर्णं जज । श्रहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोचायिष्याभि मा शुचः ॥ ६६ ॥ इदं ते नातपस्काय नाभकाय कदाचन। न चाशुश्रूपवे वाच्यं न च मां योडभ्यमुयति ॥ ६७ ॥ य इदं परमं गुह्यं मद्भक्षेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेबैंव्यत्यसश्यम् ॥ ६८ ॥ न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकुत्तमः । भविता न च मे तस्मादन्यः त्रियतरो अवि ॥ ६६ ॥ श्रध्येष्यते च य इमं धर्म्य संवादपावयोः। ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥ अद्धावाननसृयश्र शृखुयाद्पि यो नरः । सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्त्राप्तुयात्पुर्व्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥ कच्चिद्तेनच्छुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा । कच्चिदज्ञानसन्मोहः प्रशृष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥ अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्यसादान्मयाऽच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥ सञ्जय खवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः । संवादिममभूत्रीषमञ्जतं रोमहर्पणम् ॥ ७४ ॥ व्यासमसादाच्छुतवानेतद् गुह्यमहं परम् । योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साचात्कथयतः स्वयम् ॥ ७४ ॥ राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवाद्यमिममञ्जतम् ।
केशावार्जुनयोः पुरायं हृष्यामि च म्रुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यञ्जनं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७ ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीविजया भृतिर्भुवा नीतिर्मतिमम ॥ ७८ ॥
इति श्रीमञ्जगबद्गीतासूपनिपत्मु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगा नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

र्भाकृष्णापर्यानरनु ॥ शुभं भवतु ॥



भगवानजी धारसी भाई संबवी हारा सरस्वती प्रिटिंग प्रेस,

जागरा, में सुद्धित ।

क्रिक्ट क्रिक क्रिक्ट क्रिक्ट क्रिक क्रिक क्रिक्ट क्रिक क्र

# शुद्धचशुद्धिपत्र ।

### · - >= 03 : ※: - 63===-

<u>TB</u>	पङ्कि	<b>अशुद्ध</b>	शुद्ध
3	ડ, ૨૪, ૨૬	मूलतत्व	मूलतत्त्व
११	₹€	ध्यत्मा	थात्मा
१२	<b>'</b> 2	तनमात्राएं	तन्मात्रापं े
१२	33'	तामसीग्रहंकार	तामसम्रहङ्कार
१५	११	पराकाष्टा ,	पराकाष्ठा
१८	११	श्रेष्ट	थेष्ठ
१६	१४	विद्वान -	विद्वान्
२३	Æ	वृद्धि	वृक्ति
રપ્ર	k	<b>उनके</b>	इस शब्द कां छोड़दो
<b>'</b> 25	Ę	<b>भगवान</b>	भगवान्
হঙ	. 3	<b>मह</b> त्व	महत्त्व
22	5	<b>ब्योमयानतार</b>	व्योभयान
इप्ट	્ ' રષ્ઠ	मद्	<b>म</b> द्य
इ.७	२१, २२	स्पेसिफिकग्रेवेटी 🔏	सेन्टर ग्रोफ प्रेवेटी
इ७	ં રર	Specific gravity	Centre of gravity
3'=	8	थी	থা
ઇ૦		श्रदा	अद्धा
કદ	- ંર	वेदिक	वैदिक
୫୧ 🔻	25	<b>गृहसू</b> त्र	गृह्यस्त्र
<u>ሂ</u> a	१५	ध्यन्तरगत	<b>ग्रन्तर्गत</b>
8/8		चन्द्रजः	चन्द्रजी

<mark>አ</mark> ጷ	२४ वा	का
<i>છ</i> ત્ર	२ गृहस्थी	गृहस्थ
४७	३ धारन	श्रारम्
አ=	१ सञ्जीपिनिपदो -	सर्वोपनिपदो
ξo	२ बाशयत् '	चागयात्
ξo	७ भनश्चाय	मनश्चाय ं
င္ငံစ	११ पश्यति	पश्यन्ति
ξo	१३ उसका	उसको
ę s	१६ लोको	लोंक
ર્દ ર	<b>६ धोक्तं</b> '	<b>प्रोतं</b>
<b>ई</b> २	१६ चित्रजीयते	प्रविर्लायते
ई ३	१७ कोन्तेय	कोन्तेय .
इंड	१८ देना ही	करना ही
<b>६ं</b> ३	२० इदासि -	ददासि 🐪
ξķ	६ निवर्त्तन्ते	निवर्तन्ते .
8,6	२३ दुखेच्छाहिपी	्र दुःलेच्छा प्रयत्नाः
<i>ૄ્</i> ફ	२५ पाग्यपान	त्रागापान
ર્ફ્ઝ	<b>=</b> तमसा '	तमसः
ές	७ इने	देने
Ę=	१७ बुरो	<b>बुरे</b>
<b>90</b>	ई क्रिन्दति	<b>बिन्दिन्त</b>
<b>Go</b> -	६ शास्त्राणि	शस्त्राणि
<i>ত</i> १	१२ सर्वव्यापी	सर्वव्यापी
७२	१० संचसन	संचलन
ওঽ	५ घीरा	धीराः
ત્રંક	२२, १८ महान्यश	महस्रगः
હદ્ર	६ श्चयते	थ्र्यते

ওৎ	<b>=</b> :	<b>टृं</b> ज्यते	<b>दृ</b> र्यते
હર્દ	' १०	वांघे .	वांघे
હ <sup>ફ</sup>	, १८	जो '	तो 🗽
58		विपय	विषय -
ಷಚ	१६	नेति नैति	नेति नेति
52	२	परन्धुवम्	परन्ध्रुवम्
52	ঙ	रजस्	राजस्
58	ঙ	तमस्	तामस्
६१	१६	उसर्क	उसकी
ध्द	<i>হ</i> ও	ज्ञानशक्तिमान्,	ज्ञानशाकि
દ્	१७	इच्छाशक्तिमान्	इच्छाराकि ,
દર	<i>ং</i> ৩	किया शक्तिमान्	कियाशकि
६३	• 6	तेजस् .	तेजस्
थ३	. ខ	त्रिगुणात्मिक	त्रिगुणात्मक
<b>8</b> 5	१२	<b>च</b> मुणन	धनुष्टान
£5	१४	<b>ऋान्दिन्य</b>	छान्दोग्य
န့်စစ	. 6	<b>थाद्रतीय</b>	<b>ब्रह्मि</b> तीय
१०२	र्र	<b>श्वेताश्वतापनिशत्</b>	<b>श्वेताश्वतरोप</b> निपत्
१०७	5	<b>अधिदेव</b>	<b>ब्याधिदैव</b>
१०५ '	3.0	हों ,	ही . ,
११३	. '&	प्रवृति .	<b>प्रवृत्ति</b>
११३		इन्द्रियाधायः '	इन्द्रियार्थाध्ययः
११४	* · · · · · · · · · · · · · · · · · · ·	उपलान्धि	उपलन्धि .
११४		लात्त्रण	लेचण
र्र्		प्रवृति से-होते हैं	प्रवृत्ति के दोपों से होते हैं
११७	_	सविभचार	सव्यभिचार ,
१२१	<b>र्</b> ७	वृद्धि	वृद्ध

१२६	8	प्रायस्रत	<b>प्रायश्चित्त</b>
१२७	8	पन्वरात्र	पञ्चरात्र
	११	ग्रहात्म	महात्स्य
१२८		प्रहात्म .	
१२६	9	′ <sup>33</sup> .	;;
१३१	२		थ्रहिंसा
१३१	१७	<b>च</b> ित	वृत्ति
१३२	२	चकार	<b>थकारच</b>
१३८	ઇ	प्रयुति	प्रवृत्ति
१३६	8	फतो	कर्ती
१४०	र्द	ग्रवनाशी -	द्यविनाशी
१४०	38	श्रप्रेमय ़	<b>अप्रमेय</b>
१४१	- ২২	स्तम	सूत्त्म
१४१	१४	<b>प्रियास</b>	प्रयास ्
53	53	राजसी	राजस
१४६	१्द	समर्थ	सामर्थ्य
75	११	तामसी े	तामस
१५०	१०,१७	राजसी	राजस
१५०	११	दीघ	दोर्घ
१४०	१३,२०	तामसी	तामस
१५१	•	चश्रय े	ग्राथय
१५२	=	शन्ति ,	शान्ति
१५२	१३	<b>स्मर्ग</b>	स्मरण
१४३	२१	<b>लोकपरोपकार</b>	लोकोपकार
१४४	46	र्कम	कर्म
_	१८,२०,२१,२३	स्वमाविक	स्वाभाविक
१४६	७, २०	तामसी .	तासस
१४६	<b>न,१</b> न	राजसी	राजस

१५७	<sup>ह</sup> यज्ञयागादिक	यागादिक
<b>१</b> ६४	<b>४ ल्मर्गा</b>	स्मरण
१६४	६० पातज्जली	पातञ्चल
१६७	र६ श्रापातृत्ति	श्रापत्ति
<b>গ্</b> ওথ	र्४ अधिम	श्रश्चम
१७१	१= विपा	भीवम
१७२	१३ प्रतज्ञा	प्रतिश्वा
१७४ ,	१४ मौनी	- मौन
१७४	१२ कह	यह
१७६	२१ फा	વનોં
१५८	१२ निवार्ण	निर्याग
2=0	२१ सुभ	<b>मु</b> के
रेद⊏	२१ हिन्द्रो	द्यन्द्रो
₹5€	२१ कार्म	कर्म
9,80	१७ घृतराष्ट	<u> धृतरा</u> प्ट्र
280	१६ परमेश्वयं	पर्मेश्चर्य
१६२	र् २२ दाढों	ਹਾ <b>ਫੇ</b> ।
१६७	४१≒ प्रशस	प्रसन्न
११५	१३ विवित्रतियते	विप्रतियत
११५	१३ उपलब्ध्युपलब्धि	उपलब्ध्यनुपलब्ध्य

## जहां कहीं यह अमृद्ध मन्द छपा है वहां यह मुद्ध भन्द पढ़ीं।

सत्व	सस्व
तत्व	तस्व
<b>महत्व</b>	<b>महत्त्व</b>
सात्विक	सास्विव
पृथक	पृथक्
दुख	दुःख
परिमासु	यरमास्

### LALA KANNOO MAL'S BOOKS.

(Leader, October 22nd 1917.)

Lala Kannoo Mal, M. A, civil and sessions judge and education officer, Dholpur State, is a scholar of varied literary attainments, and a fine writer both in English and Hindi. He has written a number of books in both these languages, besides contributing frequently thoughtful and able articles on literary and philosphical subjects to a number of respectable English and Hindi magazines.

The following is a brief review of his books:—
BOOKS IN ENGLISH.

### 1. The 'Master poets of India.' Price 0-4 0.

This is a comprehensive survey of the lives and works of all important Sanskrit and Hindi poets of India. A mere reading of the book enables the reader to acquaint himself with the master-poets of this ancient land and to judge of their merits in comparison with the works of English poets. The book is the first of its kind and would repay perusal by all Indians—more especially the Hindus who ought to know the literary and poetical achievements of their forefathers.

### 2. The 'Secrets of Upanishads.' Price 0 2-6.

This book contains most elevating and sublime passages from the principal twelve Upanishads bearing on the Supreme Spirit and the Atma. It is in brief, the quintessence of the wisdom of the Upanishads on this subject. In the book, the Sanskrit text is first given and then its Hindi and English renderings. The book

deserves not only to be read but studied and inwardly digested by every lover of Vedanta Philosophy. It may form the basis of daily recitations by pious Hindus in their morning worship. No such epitome of the Upanishads has yet been published.

### 3. Lord Krishna's Message.' Price 0-4-0.

This book is a gist of the teachings of Lord Krishna as set forth in the Bhagvat Gim. The novel feature of the book lies in that it classifies, arranges and epitomizes the teaching of Lord Krishna under separate heads so that one may know at a glance what the great teacher had to say on each subject. The book deserves to be widely read.

### 4. The Study of Jainism. Price 0-12-0.

This book gives the sum total of the religious philosophy and ethics of the Jains under four divisions, viz. Jain Philosophy, Arhats or Tirthankurs, the ideal of Jain Sadhu and the ideal of Jain Householder. It is a work involving research and scholarship, and is very useful to all lovers of ancient philosophy and religion of this country. The book should find its way in the homes of all educated Indians, more especially the Jains.

5. The 'Sapthhangi Nyaya' or the pluralistic argument of the Jain dialectics. Price 0-6-0.

This is a most illuminating exposition of the well known Saptbhangi argument of Jain Philosophers. This pecular logic of the Jains is replete with new viewpoints of ascertaing the truth of things. The subject is very abtruse but the writer has spared no pains in explaining it in a very easy and intelligible way. The book contains an introduction by a well-known Jain Sadhu, Muni Jinvijayji, who is a living authority on Jain religion, philosophy and literature. All scholars should read the book. They would appreciate the subtleness and ingenuity of the ancient Indian mind in dealing with logical questions.

### BOOKS IN HINDI.

6. 'Sahitya Sangit Nirupan' (साहित्य संगीत निरूपण) or the study of Hindu music in the light of poetics and crotics. Price 0-10-0.

This book treats of the fundamental laws governing the Hindu music and describes all the principal Rags and Ragnis with choice examples of songs from the standard poets. Its novel and significant feature is the reconciliation of the Hindu music with the science of poetics and erotics - a thing never before attempted, and the important reform in music necessitated by this reconciliation. The book is unique of its kind and affords a new standpoint of dealing with Hindu music. It should be read by every Indian proud of the musical achievements of this country.

7. हर्वर स्पेन्सर की अक्षेय मीमांसा or Herbert Spencer's philosophy of the unknowable. Price as. 4.

For the first time, Herbert Spencer's philosophy of the unknowable has been placed within the reach of the Hindi knowing public in a most illuminating and

intelligible way. The book amply repays perusal and familiarises the reader with the main arguments of Herbert Spencer. The book is written in an up-to-date Hindi style. It is published by the Indian Press, Allahabad.

8. हर्वर्ट स्पेन्सर की क्षेय मीमांसा—or Herbert Spencer's philosophy of the knowable; price as. 4.

This is a companion volume to the above book. It treats of Herbert Spencer's philosophy of the knowable in an up-to-date Hindi style. It should invariably be read by all who read the first volume.

9. जैनतस्व मीमांसा or the principles of Jainism.

It is a small pamphlet dealing with the fundamental principles of Janism in a very lucid style.

10. भारतवर्ष के धुरन्धर कवि' or 'Bharat varash ke Dhurandher Kavi'; price 4 as.

This is a Hindi version of the master poets of India noticed in the beginning of this review. No Hindi knowing Indian ought to be without a copy of this book. It is published by the Indian Press, Allahabad.

11. सामाजिकसुधार or Social Reform; price 3 as.

The book treats in a small compass, of all the leading questions of social reform and suggests practical remedies for the evils from which the Hindu society is suffering. It is a very useful brochure for all taking interest in social reform, and there are few who are not so interested. The views of the writer are moderate and the suggestions made are very practicable.

12. ग्रंगरेजी राज्य के सुख or the blessings of British Rule; price 8 as.

The book deals elaborately with the blessings which the British Raj has conferred upon this country and aims at engendering and promoting the feelings of loyalty towards the British Government. It has been approved by the Text Book committee U. P. for distribution in prizes and to be kept in Liberaries.

- 13. ब्याकरणबोध or Hindi Grammar; price 2-6 as.
- 14. इयाकरणसार or Advanced Hindi Grammar; price 4 as.

Both these books on Hindi Grammar intended for the Upper primary and Middle sections of the vernacular schools are written on new lines and in an up-to-date style. They contain many new features not yet found in books on Hindi grammar. The Director of Public Instruction, U. P. has been pleased to give a reward of Rs. 100 to the writer on the latter of these books, i. e., the Expectoral Vyakaransar) which is an ample testimony of the book being most useful for boys for whom it is written. Inspectors and headmasters of schools would do well in introducing these books on Grammar in the schools under them. The books may with advantage be introduced into the Anglo-Vernacular schools upto the Matric standard.

All the above books can be had from the Atmanand Jain Pustak Pracharak Mandel, Roshan Mohalla, Agra, who are the publishers of several of these books.

### THE STUDY OF JAINISM.

Another well-known writer in English on Jainism is Mr. Kannoo Mal, M. A., who is a valued contributor to the Hindustan Review. His several works especially his study of Jainism are excellent contributions to the growing expository literature of Jainism.

-Ilindustan Review.

### Lord Krishna's Message.

By Lala Kannoo Mal, M. A. published by Atmanand Jain Pustak Pracharak Mandal, Roshan Mohalla, Agra. Price—4 as.

This lattle book contains a brief summary of the teachings of the Bhagvad-Gita. The author promises to write a larger and comprehensive treatise on the subject. In it he has tried to lay before the readers the main teachings of that illustions Lord, which relate to the questions of the creation of the world, Soul and the Supreme Soul [ आसा और परमाना ], their relations to each others, final goal and the ways how it can be best attained. We can safely recommend this book to all thoughtful readers.

—Dharmabhudya.

### The Master Poets of India.

By the same author and to be had of the same publishers. Price—4 as.

The very title of the book speaks for the subject dealt with therein. The book is divided into two parts: the first contains a short description of the lives and works of 26 Sanskrit poets from Valmiki down to Madhava, who florished in the end of the seventeenth century. In the appendix there is a long list of other notable Sanskrit poets who have been left unnoticed in this book. The second part of the book deals with the lives and works of Hindi poets from Chand Bardai (1092 A.D.) down to Babu Harishchandra and Raja Lachman Sinha of living memory. In the end there is a list of 60 other Hindi poets, who have not been noticed in the text. The book, although incomprehensive is worth reading by all lovers of Sanskrit and Hindi literatures.

- Dharmabhudya.

Surfice tetu—or the Secrets of the Upanishads. Compiled and translated by Lala Kannoo Mal M. A., Price 2½ annas. To be had of of the Manager, Damodar Printing Works, Agra Cantt This small book, in the words of Mrs. Annie Besant, who has written a foreword offers to all lovers of sacre literature an exquisite nosagay of blossoms, called in the garden of the twelve major Upanishads. Very fragrant are they, and soulentranting the essence of the Royal Secret—the oneness of man with God.' The compiler has really been very happy in his selections. This booklet will be useful both to the English and the Hindi reading public as the slokas given have been translated both in English and Hindi.

-Leader.

३, ४, ५—श्रीयुत लाला कन्नोमल एम० ए० घोलपुर-के तीन श्रंथ (१) उपनिषद् रहस्य, (२) साहित्य संगीत निरूपण और (३) लार्ड रुज्यान मेसेज अर्थात् भगवान् रुज्या का सन्देश-हमारे सामने हैं। उपनिषद् रहस्य में १२ मुख्य उपनिषदों में से आत्मा और परमातमा संवन्धी जो वाक्य हैं उनका इस कोटे प्रन्थ में संष्ठह किया गया है। इस पुस्तक में अप्रवचन श्रोमती माता पँनीवेसगर ने लिखा है वह १४ पिक का अत्यन्त लिलत भाषा में अगरेज़ी में लिखा है जिसने इस क्रोटे से प्रन्थ में मानो जान डाल दी है। उपनिषद पुष्प गुच्छ का जिन्हें पुनीत परिमल प्राप्त कर आनन्द उठाना हो वे श्री आत्मानन्द जैन, पुस्तक प्रचारक मंडल रोशन मुह्ला, आगरे को लिखें। मिलने के लिखें मुख्य दाई आना।

भगवान् क्षव्या का संदेश-यह पुस्तक अंगरेजी भाषा में है। अंगरेजी में भगद्गीता के विषय-यथा, जगदुत्पत्ति, आतमा और परमातमा का स्वरूप, उनका पारस्परिक सम्बन्ध, परम पदार्थ, और उसकी प्राप्ति के व्यवहारिक मार्ग-इत्यादि का थोड़े में परन्तु वड़ी रोचक रीति से किया है। मूल्य।) आने। प्रकाशक वही आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा।

—धर्म सेवक

साहित्य संगौत निरूपगा—इसमें मुल संस्कृत संगीत माला नामक प्रथ को प्रस्तावना श्रौर मानचित्र माला जोड़ कर तीन प्रकरणों में संकजित किया है। प्रस्तावना वड़ी रोचक और उपयोगी है। इसुमें संगीत ब्रौर साहित्य के झंगों की रूप रेखा थोड़े में बहुत संद्वेप से ब्रौर सरलता पूर्वक दी गई है। दूसरे प्रकरण में मूल ग्रंथ उसका हिन्दी **अनुवाद देकर राग रागिनियों के नायक नायिको तथा रस इनका परि**-च्य दिया गया है। रस परिचय के साथ यह भी बतलाया गया है कि कौनसा विषय कौन भी रागिनी में गाना चाहिये। कुछ उदाहरूण के लिये हर एक रागिनी के लज्ञण के साथ गाने की चीज़ भी दी हैं, जो साहित्य के अंग के उत्तम उदाहरण हैं। यह १३४ वर्ष की पुरानी हस्त लिखित प्रति पर से छापी गई है और संगीत शास्त्र की अच्छी पुस्तक है। प्रंथ कर्ता का प्रस्तावना के पहिले अग्रकथन भी है,जो ग्रंगरेजी में होकर भारतीय हिन्दू संगीत शास्त्र की महतीयता का परिचय कराता है । उसका परिचय हिन्दी पाठकों को अन्त में दिये हुए परिशिष्ठ से होगा। पुस्तक के ३ रे प्रकरण में कोएक छौर नकशे दिये हैं, जो संगीत शास्त्र के गान के ऋतु, काल, राग, रागिग्री, स्वरूप देवताश्रों का परि-चय कराते हैं। भ्राता कन्नोमल जी ने राजधानियों में अवशिष्ट संगीत विद्या का इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा अच्छा उद्धार किया है। इस लिये हम उनका साहित्य थ्रौर संगीत दोनों की तरफ से ब्रत्यंत धन्य-वाद मनाते हैं। इस पुस्तक का मृत्य ॥=) श्राना है, श्रौर श्रात्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, रोशन मोहल्ला, धागरा से प्राप्य है । —धर्म सेवक